सम्पादकीय

स्वास्थ्य सेवाओं की बदहाली, बेमौत मरते बच्चे : दोषी कौन?

बिहार में चमकी बुखार यानी एक्यूट इन्सेफेलाइटिस सिंड्रोम (एईएस) से लगभग 175 बच्चों की मौत हो गयी, जिनमें सिर्फ मुजफ्फरपुर में ही 132 बच्चे अकाल मौत के शिकार हुए। इससे पहले भी वहाँ 2014 में 139 और 2012 में 178 बच्चों की मौत हुई थी। लगभग हर साल अप्रैल से लेकर जून के बीच वहाँ से बच्चों की मौत की खबरें आती हैं। पिछले साल गोरखपुर में भी दिमागी बुखार से सैकड़ों बच्चों की मौत हुई थी और उस इलाके में भी यह महामारी लगभग हर साल मासूमों की जान लेती है। केंद्रीय संचारी रोग नियंत्रण कार्यक्रम के अनुसार उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, असम और बिहार समेत 14 राज्यों में इन्सेफेलाइटिस का प्रभाव है, लेकिन पश्चिम बंगाल, असम, बिहार और उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में इस बीमारी से हर साल भारी तादाद में बच्चों की मौत होती है। दिल दहला देनेवाली ऐसी विनाशलीला के प्रति सरकार की आपराधिक लापरवाही और स्वास्थ्य सेवाओं की उपेक्षा किसी भी संवेदनशील नागरिक के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय है।

बच्चे ऐसी बीमारियों से कीड़े-मकोड़ों की तरह क्यों मर जाते हैं, जिनका इलाज सम्भव है?

गर्भवती महिलाओं का अपमानजनक और खतरनाक स्थितियों में प्रसव क्यों होता है और हमारे देश में जच्चा-बच्चा की अकाल मौत रोजमर्रे की घटना क्यों है?

अस्पतालों में बेशुमार भीड़ क्यों होती है तथा जाँच और ऑपरेशन की तारीख इतनी देर से क्यों मिलती है, जिससे पहले रोगी की अंत्येष्टि-तेरहवीं की तो बात ही क्या, तीसरी बरसी का भोज भी सम्पन्न हो जाता है?

और सबसे महत्त्वपूर्ण बात आजकल देश के किसी न किसी कोने में किसी न किसी डॉक्टर को लोग क्यों पीट रहे हैं, जबकि रोगी के परिजन उनको दिल से भगवान मानते हैं? डॉक्टरों की हड़ताल से देशभर में हाहाकार क्यों मच गया? रोगी और डॉक्टर एक-दूसरे के जानी दुश्मन क्यों बन गये हैं, जबकि समस्या का असली कारण कुछ और है और उनका असली गुनाहगार उनके निशाने पर कभी नहीं आ पाता?

सच तो यह है कि आज के दौर में हमारे देश में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में एक तरफ नवउदारवादी नीतियों के तहत स्वास्थ्य सेवाओं को निजी मुनाफे का धन्धा बनाया जा रहा है और दूसरी ओर सरकारें सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा मुहैया करने के अपने दायित्व से मुँह मोड़ रही हैं। महँगी होती स्वास्थ्य सेवा और सरकारों की बढ़ती गैरजिम्मेदारी ही इन सारी समस्याओं की जड़ है।

इसे समझने के लिए हमें आजादी के बाद देश के राजनीतिक अर्थशास्त्र और खासकर स्वास्थ्य सेवाओं से सम्बन्धित नीतियों में हुए बदलावों पर एक सरसरी निगाह डालना जरूरी है।

दो सौ सालों की ब्रिटिश गुलामी के बाद जब 1947 में भारत को राजनीतिक आजादी मिली तो यहाँ के पूँजीवादी शासक वर्गों के सामने दो विकल्प थे या तो वे दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीकी चौधराहट वाले विश्व साम्राज्यवादी खेमे में शामिल हो जाते या अपने देश के स्रोत-साधनों और जनता के श्रम के भरोसे पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाते। अपने वर्गीय हितों को ध्यान में रखते हुए टाटा-बिरला प्लान या बॉम्बे प्लान के नाम से 1946 में तैयार की गयी योजना के तहत हमारे शासकों ने दूसरे रास्ते का अनुसरण किया। मूलतः आत्मनिर्भर विकास के इस रास्ते को ही नेहरू की समाजवादी नीति समझा जाता है, हालाँकि इसमें समाजवाद जैसा कुछ भी नहीं था। यह विशुद्ध पूँजीवादी रास्ता था। साम्राज्यवाद से दूरी बनाये रखना इसलिए यहाँ के शासकों हित में था क्योंकि उनकी विराट पूँजी के दम पर विकास का सपना देखने का अर्थ इस देश की अर्थव्यवस्था पर पूरी तरह विदेशी पूँजी का वर्चस्व होता और आजादी नाममात्र की रह जाती।

इन्हीं आर्थिक नीतियों के अनुरूप सरकार ने जनता के लिए अनिवार्य सामाजिक सेवाओं, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी इत्यादि को राज्य की जिम्मेदारी माना। इसी के मद्देनजर 1946 में जोसेफ भोरे ने भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम तैयार करने के लिए तत्कालीन भारत सरकार को जो सर्वे रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, उसे 1948 में स्वीकार किया गया और उसे ही आजादी के बाद स्वास्थ्य सेवाओं के विकास का आधार माना गया। 1956 में स्वतन्त्र भारत की सरकार द्वारा गठित डॉ ए एल मुदालियर कमिटी ने 1961 में जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें भी सारतः इसी रिपोर्ट की सिफारिशों से सहमति जतायी गयी, जिसकी प्रमुख बातें थीं–

-- सबके लिए सम्पूर्ण और मुफ्त स्वास्थ्य सेवाएँ (इलाज और बचाव) उपलब्ध करवाना।

-- स्वास्थ्य सेवाओं का चरणबद्ध विकास, जिसमें पहले हर 40,000 लोगों के लिए एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और हर 1,00,000 लोगों के लिए एक 75 बिस्तर वाला अस्पताल बनाना तथा हर 30 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर 50 बिस्तरों वाला एक अस्पताल बनाना।

-- हर जिला मुख्यालय (10-30 लाख की आबादी) में एक 2400 बिस्तर का अस्पताल और एक मेडिकल कॉलेज बनाना।

-- सरकारी बजट का कम से कम 15 प्रतिशत सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर खर्च करना।

-- निवारक स्वास्थ्य सेवा को मेडिकल शिक्षा का एक अंग बनाना।

इन सिफारिशों को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकारने के बावजूद सरकारों ने इनको जमीन पर कितना उतारा, इसे सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की मौजूदा स्थिति को देखकर आसानी से जाना जा सकता है। आज प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की हालत बेहद खराब है, बीस से तीस हजार लोगों के लिए केवल एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र है, कुछ राज्यों में तो एक लाख लोगों के लिए एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र है, लेकिन वहाँ भी न स्वास्थ्यकर्मी हैं, न दवाएँ। यही हाल जिला अस्पतालों और सरकारी मेडिकल कॉलेज के अस्पतालों का है।

आजादी के बाद से ही उपेक्षित सार्वजानिक स्वास्थ्य सेवाओं की इस दुर्दशा को उदारीकरण-निजीकरण की आँधी ने और ज्यादा बेहाल कर दिया। इसकी पटकथा 1991 में नरसिम्हा राव और मनमोहन सिंह की नयी आर्थिक नीतियों के रूप में लिखी गयी थी जिसे आज तक हर गठबन्धन सरकार ने आगे बढ़ाया।

नयी आर्थिक नीति आने के पीछे देश-दुनिया में हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की चर्चा यहाँ जरूरी है। दरअसल, 1990 के आसपास दुनिया भर में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, जिसने विश्वस्तर पर वर्ग शक्ति संतुलन को पूरी तरह बदल दिया-- सोवियत संघ और युगोस्लाविया का बिखराव, रूसी साम्राज्यवादी खेमे का विघटन और अमरीकी चौधराहट में एकध्रुवीय विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का अस्तित्व में आना। यह नयी विश्व परिस्थिति 1947 के दूसरे महायुद्ध के बाद वाली परिस्थिति से बिलकुल अलग थी। उस समय एक मजबूत समाजवादी खेमा मौजूद था और तीसरी दुनिया के तमाम देशों में या तो मुक्ति संघर्ष में जीत हासिल हुई थी या वहाँ की जनता जीत की ओर बढ़ रही थी। अमरीका को छोड़कर, जिसे अपनी जमीन पर युद्ध नहीं झेलना पड़ा था, अधिकांश साम्राज्यवादी देश विश्व युद्ध में तबाह हो चुके थे। अमरीका शुरू से ही अपनी साम्राज्यवादी लूट के लिए किसी देश को सीधे-सीधे गुलाम बनाने की जगह उस देश में विराट पूँजी-निवेश के जरिये उसे नवउपनिवेश बनाने की रणनीति अपनाता था। लेकिन उसकी यह रणनीति शोषण-उत्पीड़न के मामले में किसी भी साम्राज्यवादी देश से कम नहीं थी। लातिन अमरीकी देश इस क्रूरता के स्पष्ट उदाहरण रहे हैं। यही कारण है कि अमरीकी खेमे में जाने के बजाय ज्यादातर नवस्वाधीन देश समाजवादी खेमे के सहयोग से आत्मनिर्भर आर्थिक विकास का रास्ता अपनाना ज्यादा सुरक्षित समझते थे। भारत में नेहरू की नीतियों के लागू हो पाने में उस समय की अनुकूल विश्व परिस्थिति काफी मददगार साबित हुई थी। अब इस बदली हुई परिस्थिति में भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम शासकों ने अपनी आत्मनिर्भर आर्थिक नीतियों को तिलांजलि देकर विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का हिस्सा बनना स्वीकार कर लिया।

उधर अमरीका की अगुआई में विश्व साम्राज्यवादी समूह बहुत पहले से एक नयी आर्थिक विश्व व्यवस्था बनाने के मंसूबे बाँध रहा था। विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी साम्राज्यवादी संस्थाएँ 1985 के आसपास से ही डंकल प्रस्ताव के जरिये गैट को विश्व व्यापार संगठन में बदलने का प्रयास कर रही थी। इस प्रस्ताव में सेवा क्षेत्र और कृषि क्षेत्र को विश्व व्यापार का हिस्सा बनाना और अमरीकी पेटेंट कानून को पूरी दुनिया पर थोपना शामिल था। शुरू में इसके प्रस्तावों पर काफी मतभेद थे। खुद मनमोहन सिंह और जुलियस नरेरे जो साउथ कमीशन के क्रमशः सचिव और अध्यक्ष थे, डंकल प्रस्ताव को साम्राज्यवादी वर्चस्व का दस्तावेज मानते थे और उसके प्रबल विरोधी थे। लेकिन विडम्बना देखिये कि उन्हीं दोनों महानुभावों ने बदली हुई परिस्थितियों में खुद अपनी अगुआई में ही अपने-अपने देशों को उन्हीं शर्तों के आधार पर विश्व व्यापार संगठन का अंग बनाने की ओर कदम बढ़ाया और अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विश्व साम्राज्यवाद के साथ नत्थी कर दिया। नरसिम्हा राव और मनमोहन सिंह सरकार की नयी आर्थिक नीति इसी का परिणाम थी।

नयी आर्थिक नीति का मकसद भारतीय अर्थव्यवस्था में बुनियादी बदलाव लाना था, ताकि इसे साम्राज्यवादी पूँजी के हितों के अनुरूप ढाला जा सके। इसके प्रमुख प्रावधान थे-- ढाँचागत समायोजन करके विदेशी पूँजी निवेश और आयात-निर्यात पर सभी प्रतिबन्धों को हटाना, शिक्षा, स्वास्थ्य, सार्वजानिक परिवहन, बिजली-पानी, जैसी सेवाओं को पूरी तरह निजी मुनाफे के लिए खोलना, सार्वजानिक उद्यमों, खदानों, शोध संस्थानों इत्यादि को निजी पूँजीपतियों के हवाले करना और देशी-विदेशी पूँजी के रास्ते की सभी बाधाओं को हटाना, इत्यादि।

सच तो यह है कि देश में आज जितनी भी पक्ष-विपक्ष की पार्टियाँ हैं, उनमें से सभी ने किसी न किसी गठबन्धन के साथ सरकार में हिस्सा लिया और सबने 1991 की नयी आर्थिक नीतियों को ही लागू किया है। नीतिगत मामलों में उन सबकी आम सहमति है। यही कारण है कि इन नीतियों के चलते जनता की बढ़ती दुर्दशा और मौतों पर विपक्ष-धर्म की मजबूरी में घड़ियाली आँसू भले ही बहायें, इनके खिलाफ कभी कोई आवाज नहीं उठाते हैं।

वैसे तो पिछले तीस वर्षों में केन्द्र या राज्यों में जो भी सरकारें आयीं, सबने इन्हीं नीतियों को लागू किया लेकिन मोदी सरकार के दौरान देशभक्ति और राष्ट्र गौरव की आड़ में साम्राज्यवाद परस्त 'आक्रामक सुधारों' की आँधी ने उन सबको पीछे छोड़ दिया है। अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में शत-प्रतिशत विदेशी पूँजी निवेश, एफडीआई के लिए श्रम कानूनों और पर्यावरण मानदंडों में फेर-बदल, हर कीमत पर डॉलर महाप्रभु को निमंत्रण। इसके घातक नतीजे भी गोरखपुर और मुजफ्फरपुर जैसे दिल दहला देनेवाले हादसों के रूप में रोज-रोज सामने आ रहे हैं। स्वास्थ्य सेवाएँ ही नहीं, इन प्राणघातक सुधारों के दुष्परिणामों से हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी कोना अछूता नहीं है।

पिछले लगभग तीन दशकों से देश की जनता इन नीतियों के घातक नतीजे झेल रही है। एक तरफ मुट्ठी भर धनवानों और नवोदित मध्यम वर्ग के लिए सुख-सुविधा और विलासिता का भरपूर बन्दोबस्त है, तो दूसरी तरफ करोड़ों मजदूरों पर छँटनी, तालाबन्दी की मार, लाखों किसानों की आत्महत्या, हर साल लाखों लोगों का इलाज के आभाव में मर जाना, बेरोजगारों की दिनोंदिन बढ़ती तादाद और उनकी हताशा-निराशा, खेती-किसानी, मिलों-फैक्ट्रियों और परम्परागत पेशों से उजड़े लोगों का अनौपचारिक क्षेत्र के निकृष्टतम कामों के भरोसे जानवरों से भी बदतर जिन्दगी गुजारना। एक तरफ स्वर्ग को भी मात देने वाली चकाचौंध, तो दूसरी ओर साक्षात रौरव नरक।

हमारे देश के ज्यादातर छोटे-बड़े शहरों में मैक्स, फोर्टिस, अपोलो, एस्कोर्ट, मेदांता जैसे विश्व स्तर के सुपर स्पेशलिटी अस्पताल हैं, जिनके बारे में हम तभी जान पाते हैं, जब किसी बड़े आदमी के बीमार होने और उसके किसी ऐसे ही अस्पताल में भर्ती होने की खबर मिलती है। सरकार मेडिकल टूरिज्म को बढ़ावा देकर इन अस्पतालों के मालिकों के हित में विदेशी मरीजों के इलाज से डॉलर कमाने की योजना चला रही है। लेकिन अगर कोई खाता-पीता भारतीय नागरिक गलती से इन अस्पतालों में चला जाए, तो जिन्दगी भर कर्ज से उबार नहीं पाता। इन बड़े अस्पतालों की तो बात ही क्या, एक अध्ययन के मुताबिक किसी भी प्राइवेट नर्सिंग होम में इलाज के चलते, हर साल चार करोड़ लोग एक ही झटके में गरीबी रेखा के नीचे चले जाते हैं। आज ग्रामीण इलाके की 70 प्रतिशत आबादी इलाज के लिए प्राइवेट अस्पतालों पर निर्भर है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की पिछले साल की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत में स्वास्थ्य पर होनेवाले कुल खर्च का 67.78 प्रतिशत लोगों की जेब से आता है, जबकि दुनियाभर का औसत 18.2 प्रतिशत है। सरकारी खर्च में लगातार कटौती और सरकारी अस्पतालों की बदहाली को देखते हुए लोगों का निजी अस्पतालों पर निर्भर होना और उनकी मनमानी लूट का शिकार होना लगातार बढ़ रहा है। मुनाफे की हवस में इन अस्पतालों के मालिक हर तरह की बेईमानी और अनैतिक व्यवहार का सहारा लेते हैं। आये दिन मरीजों के साथ उनकी निर्मम लूट और धोखाधड़ी की खबरें आती हैं और शायद ही कोई परिवार हो, जिसके पास इन अस्पतालों के कड़वे अनुभव न हों।

और तो और, मेडिकल की पढ़ाई का निजीकरण और बाजारीकरण भी भ्रष्टाचार और लूट का नया धन्धा बन गया है। प्राइवेट मेडिकल कॉलेज की फीस करोड़ों रुपये है। जाहिर है कि वहाँ से पढ़कर निकलने वाले डॉक्टर जनता की सेवा करने के बजाय मुनाफे का धन्धा करेंगे।

साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में एक तरफ जहाँ सरकारों ने स्वास्थ्य की जिम्मेदारी से मुँह मोड़ लिया, वहीं इन नीतियों के चलते विकास के नाम पर पर्यावरण विनाश में तेजी आने, नयी-नयी नौकरियों में रात की पाली में काम, कार्यस्थल पर खराब हालात, काम के घंटों में मनमानी बढ़ोतरी, जोखिम के कामों में सुरक्षा उपाय न होना, जीवन शैली में बदलाव और सबसे बढ़कर भारी आबादी की कंगाली-बदहाली के चलते नयी-नयी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं, जबकि पुरानी बीमारियाँ फिर से पाँव पसार रही हैं। 2017 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य परीक्षण कार्यक्रम की जाँच के दौरान सिर्फ एक साल में मधुमेह और हाइपरटेंशन के मरीजों की संख्या दुगनी होने का पता चला। एक साल में कैंसर के मामले भी 36 प्रतिशत बढ़े हैं। हर साल किसी न किसी इलाके में डेंगू, चिकनगुनिया, दिमागी बुखार जैसी कोई न कोई बीमारी मौत का तांडव करती है।

सरकार 5 ट्रिलियन (5000 अरब) डॉलर की अर्थव्यवस्था बनाने का सपना परोसती है, विश्व की पाँचवीं बड़ी अर्थव्यवस्था बनने पर इठलाती है, देश में अरबपतियों-खरबपतियों की संख्या बढ़ने को अपनी नीतियों की उपलब्धि बताती है, लेकिन देश में बढ़ती कंगाली-बदहाली उसके लिए कोई मुद्दा नहीं है। वह यह नहीं बताती कि देश तरक्की कर रहा है तो सबके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी, टीकाकरण और रोजगार क्यों नहीं है? अपनी जिम्मेदारियों से बचने के लिए वह आयुष्मान जैसे कार्यक्रमों को रामबाण बताते हुए उसका बढ़-चढ़ कर प्रचार करती है, जबकि

वह सिर्फ एक स्वास्थ्य बीमा योजना है। कोई भी बीमा कम्पनी अपने मुनाफे के लिए कार्यक्रम चलाती है, जनकल्याण के लिए नहीं। आयुष्मान बीमा योजना कितनी कारगर है, इसका खुलासा तो मुजफ्फरपुर, असम और देश के तमाम इलाकों में महामारी से हुई मासूमों की मौत ने ही कर दिया। बीमा कम्पनियों के मुनाफे के लिए उनको सरकारी योजना का तोहफा देने और महज 10 करोड़ लोगों का बीमा करवाकर अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ने के बजाय यह सरकार सरकारी अस्पतालों को बेहतर बनाने और सबके लिए इलाज की बात क्यों नहीं करती?

सच तो यह है कि अपने उद्भव के दौर से ही पूँजीवाद खुद ही एक बीमारी रहा है। जैसे-जैसे पूँजी का आकार बढ़ता है, वैसे-वैसे समाज में गरीबी, भुखमरी और बीमारी भी बढ़ती जाती है। यह पर्यावरण का विनाश करता है, हवा-पानी को प्रदूषित करता है, कचरे का ढेर लगता है, यानी वे सारे हालत पैदा करता है, जिनसे नयी-नयी बीमारियाँ पैदा होती हैं और पुरानी बीमारियाँ महामारी का रूप धारण कर लेती हैं। औद्योगिक क्रान्ति के बाद का इतिहास इस बात का गवाह है और हमारे देश में भी पूँजीवाद के साथ-साथ जानलेवा बीमारियों का आना सबकी जानकारी की बात है।

लेकिन आज के नवउदारवादी दौर में आकर पूँजीवाद अब एक असाध्य रोग, मानवता के लिए एक प्रकोप बन गया है। पूँजीवाद विकट समस्याएँ पैदा करता है और उनके समाधान के नाम पर भरपूर मुनाफा कमाता है। दुनिया भर में स्वास्थ्य सेवाओं का धन्धा करने वाली धनी देशों की बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियाँ, चिकित्सा उपकरण और सर्जरी के सामान बनाने वाली कम्पनियाँ, जाँच उपकरण बनाने वाली कम्पनियाँ, दुनियाभर में अत्याधुनिक अस्पतालों की श्रृंखला चलाने वाली कम्पनियाँ और बीमा कम्पनियाँ भारत जैसे देशों में अपने साझेदार पूँजीपतियों के साथ साँठ-गाँठ करके अरबों-खरबों का मुनाफा कमाती हैं। अपनी इस लूट को आसान बनाने के लिए वे यहाँ के शासकों को प्रलोभन देकर अपने हित में योजनाएँ बनवाती हैं तथा स्वास्थ्य पर सरकारी खर्चे में कटौती और निजीकरण के पक्ष में मीडिया के जरिये राय कायम करवाती हैं। ये डॉक्टर से लेकर एजेन्टों तक को भारी कमीशन देती हैं, जिसका सारा बोझ मरीजों की कमर तोड़ देता है। सबके लिए स्वास्थ्य की गारन्टी के लिए इसे पूँजी की बेड़ियों से आजाद करवाना बेहद जरूरी है। विश्व जनगण को अपनी सभी तरह की बीमारियों से मुक्ति पाने के लिए इस नवउदारवादी पूँजीवाद से मुक्ति का संघर्ष शुरू करना लाजिमी है ताकि एक स्वस्थ समाज व्यवस्था की बुनियाद रखी जा सके। मेहनतकश जनता के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न है।

पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 32 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाये।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाये या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 32 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 4 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें और इसकी सूचना एसएमएस या ईमेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
मोबाइल नं. 9810104481
S.B. AC : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इंडिया,
जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न. 4,
न्यू मॉर्डन शाहदरा
दिल्ली- 110032

मुजफ्फरपुर में मासूम बच्चों की मौत

-- अभय शुक्ल

अन्तःकरण और स्वास्थ्य के बुनियादी ढाँचे का आभाव भारत के गरीबों के लिए मौत का नुस्खा है।

भारत ऐसी घटनाओं से भरपूर है जो पहले भी हुई हों लेकिन हर बार नयी लगती हैं और जितनी ही चीजें बदलती हैं, उतनी ही पहले जैसी बनी रहती हैं।

2017 में ही गोरखपुर में 175 बच्चे इन्सेफेलाइटिस से मरे थे; आज उसी बीमारी से मुजफ्फरपुर में 156 से भी ज्यादा बच्चे मर चुके हैं।

इस बीच एक ही चीज बदली है, वह है आयुष्मान भारत कार्यक्रम, यानी प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना का भव्य आरम्भ, जिसके तहत देश के 50 करोड़ गरीबों के स्वास्थ्य की देखभाल का आश्वासन दिया गया था।

मुजफ्फरपुर की महामारी इसकी पहली बड़ी परीक्षा थी और यह बुरी तरह असफल हुआ है।

मैं हर शाम टेलीविजन चौनलों पर कचरों के मंथन को शायद ही कभी देखता हूँ, लेकिन 18 जुलाई को मिरर नाउ पर एक कार्यक्रम देख कर मेरे क्षयग्रस्त अन्तःकरण पर इस तरह कीड़े रेंगने लगे, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इसमें एक जिला अस्पताल की भयावह तस्वीर दिखायी गयी थी जहाँ वार्डो में डॉक्टर नहीं, दवा नहीं, बिजली नहीं, एक सर्वव्यापी गन्दगी का आवरण, रोगियों के लिए सड़ा खाना और एक बेड पर दो-तीन मरते बच्चे ठूँसे हुए। सब कुछ दौरे पर आने वाले केन्द्रीय मंत्री, एक मुख्यमंत्री और एक राज्य स्वास्थ्य मंत्री द्वारा सही प्रमाणित किया गया जिन्होंने मौत के लिए खाली पेट लीची खाने और प्रशासन की चुनावों में व्यस्तता को जिम्मेदार ठहराया।

जैसा कि कार्यक्रम में भाग लेने वाले एक व्यक्ति ने कहा, जो खुद ही एक डॉक्टर था, कि इन वार्डो में तीन दिन रहने के बाद कोई स्वस्थ आदमी भी जिन्दा नहीं रह सकता।

आयुष्मान भारत योजना का क्या हुआ, जिसे सबके लिए स्वास्थ्य की रामबाण दवा बताते हुए डींग हाँकी गयी थी?

जवाब बहुत सीधा है, क्योंकि यह एक क्विक फिक्स, एक एम-सिल के सिवा कुछ नहीं जो दरार की मरम्मत किये बिना, सिर्फ उसको चिपका देती है। ऐसा नहीं है कि यह योजना दोषपूर्ण है, समस्या यह है कि यह समस्या के उस मूल करण का हल नहीं सुझाती, जिसे गोरखपुर की तरह ही मुजफ्फरपुर ने सामने ला दिया। ग्रामीण इलाके में सरकारी और निजी स्वास्थ्य ढाँचे का भारी आभाव।

अपनी प्रमुख जिम्मेदारी को पूरा न करने वाली सरकार के लिए गिनीज बुक में नाम लिखवाने की लत एक बहाना है। दुनिया की सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी, दुनिया की सबसे ऊँची मूर्ति, दुनिया की सबसे बड़ी आय वितरण स्कीम, पूरी धरती पर सबसे बड़ा स्वास्थ्य देखरेख कार्यक्रम, इत्यादि, इत्यादि।

ये प्रभावकारी आँकड़े केवल एक बदसूरत सच्चाई को छिपाते हैं-- गाँव के गरीबों की स्वास्थ्य देखभाल तक बिलकुल पहुँच नहीं है क्योंकि जमीन पर यह मौजूद नहीं है और उनके लिए आयुष्मान का वजूद सिर्फ कागज पर है।

भारत सरकार स्वास्थ्य पर सकल घरेलू उत्पाद का 2 प्रतिशत से भी कम खर्च करती है, जबकि वैश्विक औसत 6.5 प्रतिशत है; स्वास्थ्य पर सरकार केन्द्रीय बजट में 32,000 करोड़ रुपये मुहैया करती है, यानी महज 300 रुपये प्रति व्यक्ति!

विश्व स्वास्थ्य संगठन का मानक हर एक हजार की आबादी पर 3.5 बेड की गहनता प्रस्तावित करता है, जबकि हमारे यहाँ सिर्फ 1.3 है और आश्चर्यजनक सच्चाई यहाँ है कि इनमें से 70 प्रतिशत बेड देश के सबसे बड़े 20 शहरों में हैं।

डॉक्टरों और नर्सों की यहाँ इतनी कमी है कि सुनकर दिमाग चकरा जाता है। 15 लाख डॉक्टरों और 24 लाख नर्सों की कमी है। जबकि हमारे मेडिकल कॉलेजों से हर साल सिर्फ 50,000 डॉक्टर पढ़कर बाहर निकलते हैं। अनुमान लगाया गया है कि इन कमियों को पूरा करने के लिए 1650 अरब रुपये की जरूरत है जो हमारे सकल घरेलू उत्पाद का 2 प्रतिशत होता है।

स्वास्थ्य ढाँचे की इसी गहरी खाई को पाटना सरकार के लिए बेहद जरूरी है। अगर वह इस काम में नाकामयाब होती है तो

इसका मतलब यह है कि आयुष्मान भारत हद से हद शहरी आबादी के लिए ही रह जाएगा और भारत की 60 प्रतिशत जनता को मुजफ्फरपुर जैसी घटनाओं का सामना करने के लिए छोड़ दिया जाएगा।

आयुष्मान योजना का मकसद निजी क्षेत्र के अस्पतालों को सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं में मौजूद कमियों का लाभ उठाने में समर्थ बनाना है, लेकिन जब ग्रामीण क्षेत्र में प्राइवेट अस्पताल का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, जैसी हालत अभी है, क्योंकि वहाँ पैसा बनाने का मौका बहुत कम है, तो यह बिजनेस मॉडल फेल हो जाएगा। फिर गम्भीर रोगी कहाँ जायेंगे?

सरकार अभी भी यह भ्रम फैला रही है कि बड़ी-बड़ी घोषणाएँ और परियोजनाएँ समस्या का समाधान कर देंगी। प्रमाण के रूप में हमने देखा कि इसी सप्ताह केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री ने गर्व से दावा किया कि मुजफ्फरपुर के लिए एक सुपर स्पेशलिटी अस्पताल स्वीकृत किया गया है। इससे कोई मदद नहीं मिलने वाली, क्योंकि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के अभाव में रोगी मिथकीय सुपर अस्पताल तक पहुँचने से पहले ही मर जाते रहे हैं।

अध्ययन बार-बार यह दिखाते रहे हैं कि 80 प्रतिशत बीमारियाँ पीएचसी स्तर पर ही ठीक हो जातीं, बशर्ते सरकार उनके ऊपर पैसा खर्च करने को लेकर गम्भीर होती। इसके बजाय, जैसा कि एक टीवी रिपोर्ट में दिखाया गया, मुजफ्फरपुर के 90 प्रतिशत पीएचसी बेकार पड़े हैं। यही हाल अधिकांश राज्यों का है।

अगर वे कामयाब हालत में होते तो इनमें से ज्यादातर मरनेवाले बच्चों को बचाया जा सकता था।

इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि आयुष्मान भारत उनको बचा नहीं पाया, ठीक उसी तरह जैसे प्राइवेट सेक्टर को आउटसोर्स किये गये दूसरे उपहार, किसान बीमा योजना ने किसानों के लिए कुछ खास नहीं किया, जो इस सुधार के जरिये लगातार खुदकुशी करते रहे हैं।

एक डिजिटल न्यूज आउटलेट द्वारा प्राप्त आरटीआई सूचना के मुताबिक, बीमा कम्पनियों ने केवल खरीफ की फसल के लिए किसानों से 20,747 करोड़ रुपये इकठ्ठा किये; अबतक उन्होंने दावे के रूप में 7697 करोड़ रुपये का भुगतान किया, जबकि अभी तक 5171 करोड़ रुपये का दावा उनके पास रुका हुआ है।

इस तरह अच्छी हालत में (बीमा कम्पनियों के लिए) उनकी जेब में 13,050 करोड़ रुपये जायेंगे और खराब से खराब हालत में भी 7880 करोड़ रुपये। इस बात को समझने के लिए किसी नीति आयोग की जरूरत नहीं, कि इस बीमा योजना का लाभ किसे हुआ? मैंने कभी नहीं सुना कि बीमा कम्पनी के किसी सीईओ ने आत्महत्या कर ली।

किसान बीमा योजना या आयुष्मान भारत जैसी कोई भी आउटसोर्स बीमा योजना सरकारी प्रयास का सहायक हो सकते हैं, वे कभी भी जरूरी ढाँचा और नीति तैयार करने का विकल्प नहीं हो सकते, जैसे सिंचाई, न्यूनतम समर्थन मूल्य, गैरजरूरी प्रतिबन्धों को हटाना, गाँव के स्तर पर स्वास्थ्य सुविधा और स्वास्थ्य कर्मी उपलब्ध करना।

सरकार द्वारा अपने बुनियादी कामों की सभी आउटसोर्सिंग का यही हाल है-- शिक्षा, सार्वजानिक सुरक्षा, जन स्वास्थ्य, परिवहन, और आनेवाले दिनों में असैनिक सेवा भी। हम सरकार से उम्मीद करते हैं कि वह बुनियादी जन सुविधाएँ खुद मुहैया करे और महज इसलिए कि वह अपनी अक्षमताओं को दूर नहीं कर सकती, उनको खून चूसने वालों को न सौंप दे।

यह लगातार फैलती जा रही आउटसोर्सिंग प्लेसिबो (फुसलाने वाली दावा) से बदतर है, कम से कम प्लेसिबो नुकसान तो नहीं करती, लेकिन यहाँ तो जनता कंगाल होती जा रही है, खुद को मार ले रही है या चूहों से संक्रमित अस्पताल के एक-एक बेड पर तीन-तीन की संख्या में गुमनाम मौत का शिकार हो रही है क्योंकि एक सरकार को एक और गिनीज बुक रिकार्ड की लालसा, प्रलय के उस मंदिर, दावोस में एक नायक के स्वागत का रिकार्ड।

हालाँकि एक सवाल रह ही गया। कोई अपने अन्तःकरण का आउटसोर्स किसको करता है?

(हिलपोस्ट ब्लॉग से साभार)

पृष्ठ 7 का शेष...

पैसा सरकार कहाँ से लाती है? जब वह पैसा डूबता है तो किसका डूबता है? क्या वह जनता का पैसा नहीं? क्या टैक्स के रूप में चुकायी गयी रकम अन्ततः उन्हीं पूँजीपतियों के पास संचित नहीं हो रही?

सरकार जिस गति से सरकारी निकायों का निजीकरण कर रही है उसका असर महज मूलभूत नागरिक सुविधाओं के महँगे होने पर ही नहीं पड़ेगा बल्कि जंगल, जमीन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर निजी कब्जे में बढ़ोतरी होगी, कॉरपोरेट खेती को बढ़ावा मिलेगा, बड़े उद्योगपतियों के हाथ में ही व्यापार का नियंत्रण होगा, और इस समूचे नियंत्रण का असर नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों के हनन पर भी पड़ेगा।

हम जितनी जल्दी निजीकरण के खतरे को समझ लें उतना बेहतर, लोकतंत्र में सरकार की भूमिकाओं पर सवाल करें, और उससे अपने वोट का ही नहीं, पैसों का भी हिसाब लें।

निजीकरण, इतना लुभावना शब्द और इतना घातक!

-- कनुप्रिया

पिछले दिनों बिहार के मुजफ्फरपुर में चमकी बुखार के कारण मरने वाले बच्चों की संख्या डेढ़ सौ पार पहुँची, कारण जागरूकता की कमी, सही चिकित्सा न मिलना, चिकित्सा सुविधाओं में कमी, गरीबी, कुपोषण आदि। जिस अस्पताल की दुर्व्यवस्था की चर्चा रही उसी अस्पताल का दौरा स्वास्थ्य मंत्री डॉक्टर हर्षवर्धन ने 5 साल पहले भी किया था और वही तमाम वादे किये थे जो इस साल फिर किये। एम्स के विशेषज्ञों की टीम ने सरकारी उदासीनता और प्रशासनिक काहिली को घटना का कारण बताया।

यह मात्र एक बानगी है सरकारी व्यवस्था की। सरकार हम क्यों चुनते हैं और किसी सरकार से हम क्या उम्मीद करते हैं? यही कि वह मूल नागरिक सुविधाओं, जैसे शिक्षा, चिकित्सा, सड़क परिवहन, पानी, बिजली, शौचालय, कचरा प्रबन्धन आदि को सुगम बनाये, रोजगार, खाद्य, सूचना और आम नागरिक सुरक्षा प्रदान करे; कृषि, व्यापार आदि की बढ़ोतरी के लिए काम करे तथा नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करे।

फिलहाल गरीबी, कुपोषण, रोजगार, कृषि, पर्यावरण और पानी की खौफनाक स्थिति जैसे ज्वलन्त मुद्दों, समाज में समरसता के दिनों-दिन खत्म होने तथा गृहयुद्ध की स्थिति में पहुँचने जैसी समस्याओं को एकबारगी छोड़कर नागरिक सुविधाओं की ही बात करें तो हम पाते हैं कि आम नागरिक महज सरकारी निकायों के भरोसे नहीं रह सकता। वह लगभग हर दूसरी सुविधा के लिए निजी सेक्युरिटी कम्पनियों को अतिरिक्त धन चुका रहा है।

सरकार जिस तेजी से निजीकरण कर रही है, उससे सवाल यह उठता है कि सब कुछ निजी हाथों में सौंप देना ही अगर सरकार का काम है तो हम सरकार चुनते ही क्यों हैं और टैक्स किसलिए देते हैं? हम सीधे निजी स्कूल, अस्पताल, सड़क, ट्रेन, हवाई जहाज, टेलीफोन, मोबाइल, पानी, बिजली, सीवर आदि के लिए सीधे निजी कम्पनियों को ही क्यों न पैसा चुका दें?

गरीब की तो यूँ भी मौत है, वह निजीकरण का भार ही नहीं उठा सकता, उसको चिकित्सीय सुविधा न मिली तो मर जाएगा, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। उसके बच्चे अशिक्षित रहेंगे, वह जीवन की छोटी-छोटी सुविधाओं को बटोरने में ही जीवन की तमाम ऊर्जा खपाकर एक गुलाम, एक सस्ते श्रमिक से अधिक कुछ नहीं रह जाएगा। मगर सरकार को वोट वह भी देता है।

और लाखों करोड़ का चुनावी खर्च बताता है कि राजनीतिक पार्टियाँ अपने चुनाव खर्च के लिए इन्हीं निजी कम्पनियों के मालिकों के पैसों की मोहताज हैं, तब गरीब आदमी क्या बस वोट देने के लिए है? उस वोट का फायदा उसे क्या होना है जब सरकार भारत-पाकिस्तान के नाम पर बनती हो, 'मशान-कब्रिस्तान पर बनती हो, उसके लिए बनायी गयी, क्रियान्वित की गयी योजनाओं पर नहीं।

लोकतंत्र एक भव्य धोखा हो गया है, जनता के नाम पर सारी लूटखसोट, निजीकरण, क्योंकि वोट जनता ने दिया है, कितने प्रतिशत ने ठुकरा दिया वह कहीं दर्ज ही नहीं होता। एक बार वोट साध लिए, फिर जनता महज दर्शक है, ज्यादा से ज्यादा चिल्ला लेगी, उस पर भी अब ये कहा जाने लगा है कि शुक्र करो चिल्ला रहे हो, यही लोकतंत्र है।

वह जमाना आयेगा जब कम्पनियों के सीइओ सीधे राज करेंगे? या कभी नहीं आएगा, क्योंकि सीधी लूट दिखती है, जबकि जनता द्वारा चुने जाने के ढोंग से लूट की छुपमछुपाई चलती रहती है।

रेलवे गया, बीएसएनएल गया (जियो को सरकार ने बढ़ावा दिया), एयर इन्डिया जाने वाला है, ओएनजीसी जा रहा है, एचएएल को तो खुद सरकार ने दरकिनार करके रिलाएन्स को राफेल दिलवाया, मानो वह सगा बच्चा हो और एचएएल सौतेला, और जाने कितनी सरकारी संस्थाएँ निजी कम्पनियों के हवाले होने वाली हैं। सरकार क्या करेगी फिर? मीडिया प्रबन्धन? कि वो जनता को गुमराह करती रहे? गलत मुद्दों पर फँसाये रखे?

अब सवाल यही है, कि जिस तरह बिना वोट दिये भी सरकार तो बन ही जाती है, टैक्स देना न देना भी चुना जा सकता है क्या?

मात्र 100 बड़ी कम्पनियों के जितने लाख करोड़ रुपये रिजर्व बैंक के डूबे खाते में डाल दिये गये हैं, उनको कर्ज देने का

शेष पृष्ठ 6 पर...

सफाईकर्मियों की मौत : जिम्मेदार कौन?

– दिगम्बर

-- 15 जून, गुजरात में वडोदरा के निकट एक गाँव में होटल के सीवर की सफाई के लिए मैन होल में उतरे 7 लोगों की जहरीली गैस से दम घुटने के कारण मौत हो गयी। मैन होल में सबसे पहले घुसे महेश के बाहर न निकलने पर उसको देखने के लिए मैन होल में एक-एक कर उतरे सभी सात लोगों की 15 मिनट में भीतर मौत हो गयी। इनमें 4 सफाई कर्मचारी और 3 होटल कर्मी थे।

-- 27 जून, हरियाणा के रोहतक में सेफ्टी टैंक साफ करने के दौरान जहरीली गैस की चपेट में आने से चार कर्मचारियों की मौत हो गयी। इनमें से तीन कर्मचारियों को निजी तौर पर रखा गया था जबकि एक लोक स्वास्थ्य विभाग से था। चारों सफाईकर्मियों की उम्र 22 से 30 साल के बीच थी।

-- 1 मार्च, वाराणसी, कैंट थाना अन्तर्गत पांडेयपुर काली मंदिर के पास सीवर पाईप लाइन का चैम्बर साफ करने उतरे दो सफाईकर्मियों की मौत हो गयी। एनडीआरएफ और नगर निगम की टीम ने चैम्बर से शवों को बाहर निकाला।

-- 24 मार्च, वेस्ट दिल्ली के रजौरी गार्डन इलाके में सीवर सफाई के दौरान जहरीली गैस की चपेट में आने से 2 कर्मचारियों की मौत हो गयी, जबकि 2 गम्भीर रूप से घायल हो गये। ये चारों राजौरी गार्डन स्थित पाइरेट्स ऑफ ग्रिल्स रेस्तरां में हाउस कीपिंग स्टॉफ का काम करते थे, जिनको सीवर सफाई का काम करने पर मजबूर किया गया था।

देश भर में आये दिन होनेवाले ये भयावह और दिल दहला देनेवाले हादसे थमने का नाम नहीं ले रहे हैं। सफाईकर्मियों को बिना किसी सुरक्षा उपाय के ऐसे जानलेवा काम करने के लिए मजबूर करना तो अब आम बात हो गयी है। ऐसी हर घटना के बाद पक्ष-विपक्ष के नेता कुछ बयानबाजी करते हैं, हल्ला-गुल्ला होता है, दोषियों की गिरफ्तारी और मुआवजे की घोषणा जैसी रस्म निभायी जाती हैं। सामाजिक भेदभाव के शिकार और सबसे निचले पायदान पर जी रहे सफाईकर्मियों की हैसियत के मुताबिक ही मुआवजे की रकम तय होती है और जहाँ तक कानूनी प्रक्रिया की बात है, इन मजबूर और मासूम लोगों को क्रूरतापूर्वक मौत के मुँह में धकेलनेवालों के ऊपर या तो बहुत ही मामूली धाराओं में मुकदमा दर्ज होता है या आमतौर पर किसी को कसूरवार नहीं ठहराया जाता। और फिर कुछ ही दिनों बाद किसी दूसरी भयावह घटना की खबर आ जाती है।

हजारों सालों से अमानवीय जाति-प्रथा के सोपान क्रम में समाज के सबसे निचले स्तर पर जी रही जातियों से आने वाले सफाईकर्मियों की दुर्दशा किसी से छिपी नहीं है। हाथ से मैला साफ करने की प्रथा पर बड़ी-बड़ी बातें करनेवाले लोग दरअसल जिस विशेषाधिकार का पीढ़ी दर पीढ़ी सुख भोगते आ रहे हैं, उसे वे क्यों खोना चाहेंगे? यही कारण है कि आरक्षण समाप्त करने और साथ ही साथ अपनी-अपनी जातियों के लिए आरक्षण कि माँग करने वाली दबंग जातियों के नेता सफाई के काम में निचली जातियों के शत प्रतिशत आरक्षण का कभी विरोध नहीं करते। ये लोग इस पेशे पर कुछ खास जातियों के एकाधिकार को कभी चुनौती नहीं देते। आरक्षण की बहस का यहाँ कोई जोर नहीं चलता। यहाँ तक कि निजीकरण और ठेकेदारी व्यवस्था में, जहाँ दूसरे तमाम सम्मानजनक कामों में आरक्षण लागू नहीं है, वहाँ भी अपवादों को छोड़कर सबसे अपमानजनक समझा जाने वाला सफाई का काम परम्परा से इस पेशे में लगी जातियों के लिए पूरी तरह आरक्षित है। आज भी हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाई, सभी धर्मों की कुछ खास जातियाँ ही मैला ढोने और सफाई करने के लिए निर्धारित कर दी गयी हैं जो नरक से भी बदतर हालात में जिन्दगी बसर करती हैं।

सिर पर मैला ढोनेवाले मेहनतकश लोगों के प्रति सरकार की उपेक्षा का हाल ये है कि देश के विभिन्न हिस्सों में उनकी कुल संख्या और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बारे में कोई सर्वे या अध्ययन नहीं कराया गया। 2015 में सरकार ने लोकसभा में यह जानकारी दी थी कि 2011 की जनगणना के आँकड़े के मुताबिक देश के ग्रामीण इलाकों में 1,80,657 परिवार मैला सफाई का काम कर रहे थे। इनमें से सबसे ज्यादा 63,713 परिवार महाराष्ट्र में थे। इसके बाद मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, त्रिपुरा और कर्नाटक का स्थान है। यह संख्या परिवारों द्वारा दी गयी जानकारी पर आधारित है।

दूसरी ओर, 2011 की जनगणना के अनुसार देश में हाथ से मैला सफाई करनेवाले कर्मियों की कुल संख्या 7,94,000 थी। राज्य सरकारें सीवर सफाई के दौरान होने वाली मौतों के बारे में केन्द्र को सही-सही सूचना नहीं देतीं। 2017 में 6 राज्यों ने केवल 268 मौतों की जानकारी दी। गजब तो यह कि एक सरकारी सर्वे के अनुसार 13 राज्यों में सिर्फ 13,657 सफाईकर्मी हैं। 19 सितम्बर 2018 को द गार्डियन की एक रिपोर्ट में बताया गया कि राज्य सरकारें हाथों से मैला सफाई करने वाले मजदूरों के अस्तित्व से ही इनकार करती हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार जब राज्य सरकारों से हाथों से मैला सफाई करने और ढोने वाले सफाईकर्मियों की संख्या पूछी गयी तो तत्कालीन छत्तीसगढ़ सरकार ने 3 और गुजरात सरकार ने 2 बतायी। उन राज्यों में सफाईकर्मियों की अक्सर होने वाली मौत की खबरें इस गलतबयानी का पर्दाफाश करती हैं, जिनमें से एक इस लेख की शुरुआत में ही दी गयी है।

राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग के अनुसार 2017 से हर पाँचवें दिन कोई न कोई अभागा सीवर या सेफ्टी टैंक की सफाई के दौरान मौत का शिकार बन जाता है। हैरत की बात यह कि इस तरह की मृत्यु के बारे में यह पहला आधिकारिक आँकड़ा था। सीवर सफाई के दौरान हुई मृत्यु के बारे में आयोग द्वारा दिये गये आँकड़े के मुताबिक देशभर में तामिलनाडु का पहला और गुजरात का दूसरा स्थान है। आयोग के अध्यक्ष ने स्वीकार किया था कि यह आँकड़ा अंतिम और पूर्ण नहीं है क्योंकि ज्यादातर राज्यों में इस तरह की मृत्यु की रिपोर्ट दर्ज ही नहीं होती। इसलिए इनको हिन्दी और अंग्रेजी अखबारों में छपी खबरों तथा 29 राज्यों और 7 केन्द्र शासित प्रदेशों में से सिर्फ 13 द्वारा दी गयी जानकारी के आधार पर तैयार किया गया था। इनमें सफाई के काम में लगी जातियों के स्त्री-पुरुषों की विभिन्न रोगों से होनेवाली मौत के आँकड़े भी शामिल नहीं थे। सुरक्षा साधनों के बिना ही हाथ से मैला और गन्दगी उठाने के चलते उन्हें तरह-तरह के संक्रामक रोग हो जाते हैं और इनकी औसत आयु बेहद कम हो जाती है।

हमरे देश में जब कोई समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है और सरकार के लिए उस पर पर्दा डालना कठिन हो जाता है तो वह उस पर कोई आयोग बैठाकर या कानून बनाकर अपने कर्तव्यों का इतिश्री कर लेती है। इस समस्या पर भी सरकारों का यही रवैया रहा है। 1993 में 6 राज्यों ने केन्द्र सरकार से मैला ढोने की प्रथा पर अंकुश लगाने के लिए कानून का निर्माण करने का अनुरोध किया। तब "द एम्प्लॉयमेंट ऑफ मैनुअल स्कैवेंजर्स एंड कंस्ट्रक्शन ऑफ ड्राई लैट्रिन्स (प्रोहिबिशन) एक्ट 1993" नरसिम्हा राव सरकार द्वारा पारित किया गया। इस कानून के बनने के बाद से सीवर सफाई के दौरान जहरीली गैसों के कारण हुई 1800 सफाईकर्मियों की मौत की तथ्यपरक जानकारी सफाई कर्मचारी आन्दोलन के समन्वयक और मैग्सेसे पुरस्कार विजेता बेजवाड़ा विल्सन और उनके साथियों के पास मौजूद हैं। यह संख्या केवल उन मामलों की है जिनके विषय में दस्तावेजी सबूत मौजूद हैं। वास्तविक संख्या तो इससे कई गुना अधिक है क्योंकि इस तरह की अधिकांश मौतों के मामले दबा दिये जाते हैं। मृतक के परिजन अशिक्षा और गरीबी के कारण कानूनी लड़ाई लड़ने की स्थिति में नहीं होते। मृत्यु के लिए जिम्मेदार ठेकेदार और अधिकारी अपने रसूख के बल पर अक्सर ऐसे मामले को रफा-दफा कर देते हैं।

सितम्बर 2013 में सरकार ने इस सम्बन्ध में एक और नया कानून बनाया "प्रोहिबिशन ऑफ एम्प्लॉयमेंट एज मैनुअल स्कैवेंजर्स एंड देयर रिहैबिलिटेशन रूल्स 2013" जिसे दिसम्बर 2013 में लागू किया गया। लेकिन कानून बनाने से किसी समस्या का समाधान कैसे होगा, जब न तो समाज में उसे लागू किये जाने की परिस्थिति है और न ही शासन-प्रशासन उसे मुस्तैदी से लागू करने में कोई रुचि लेता हो। निजीकरण के मौजूदा दौर में ज्यादातर सफाईकर्मी निजी ठेकेदारों के अधीन काम करते हैं-- कोई सम्मानजनक वेतन नहीं, कोई सेवा शर्त नहीं, बीमा नहीं, पेन्शन नहीं। पुलिस, अधिकारी और ठेकेदार का गठजोड़ मृत्यु के कारण को बदलने का कार्य करता है। एक नाम मात्र की राशि मृतक के परिजनों को ठेकेदार द्वारा दे दी जाती है। सरकारी काम करने के बावजूद सरकारें इन्हें अपना कर्मचारी नहीं मानती हैं, इसीलिए इन्हें मुआवजा देने से भी इनकार कर देती हैं।

डॉ आशीष मित्तल (जानेमाने कामगार स्वास्थ्य विशेषज्ञ तथा इस विषय पर "होल टू हेल" और "डाउन द ड्रेन" जैसी चर्चित पुस्तकों के लेखक) के अनुसार सीवर सफाई से जुड़े अस्सी प्रतिशत सफाईकर्मी रिटायरमेंट की आयु तक जीवित नहीं रह पाते और श्वसन तंत्र के गम्भीर रोगों तथा अन्य संक्रमणों के कारण इनकी अकाल मौत हो जाती है। कानूनन पहले तो किसी व्यक्ति का सीवर सफाई के लिए मैनहोल में उतरने पर ही रोक है, लेकिन अगर किसी आपातस्थिति में किसी व्यक्ति को सीवर में उतरना जरूरी हो जाय, तो लगभग 25 तरह के सुरक्षा प्रबन्धों की एक चेक लिस्ट है जिसका पालन करना लाजिमी होता है।

सबसे पहले, जहरीली गैसों की जाँच के लिए एक विशेषज्ञ इंजीनियर की उपस्थिति जरूरी होती है। एम्बुलेंस की और डॉक्टर का मौजूद होना भी जरूरी होता है। सीवेज टैंक में उतरने वाले मजदूर को गैस मास्क, हेलमेट, गम बूट, ग्लव्स, सेफ्टी बेल्ट आदि से सुसज्जित पोशाक पहनना होता है। इसके बाद मौके पर मौजूद किसी जिम्मेदार अधिकारी द्वारा यह प्रमाणित करने पर कि सभी सुरक्षा नियमों का पूरी तरह पालन कर लिया गया है, मजदूर को

सीवर में उतारा जा सकता है। सुप्रीम कोर्ट की एक बेंच ने 2014 में निर्णय दिया था कि आपातस्थितियों में भी बिना सुरक्षा उपकरणों के सीवर लाइन्स में प्रवेश अपराध की श्रेणी में आएगा। सुप्रीम कोर्ट ने यह भी कहा कि मृत्यु के ऐसे प्रत्येक मामले में 10 लाख रुपये का मुआवजा दिया जाये। लेकिन तमाम कानूनी प्रावधानों के बाद भी सीवर सफाई के दौरान होने वाली मौतें थमने का नाम क्यों नहीं ले रही हैं?

जमीनी सच्चाई यह है कि सफाई कराने वाले ठेकेदार बिना किसी सुरक्षा उपकरण के 200-250 रुपये की दिहाड़ी पर काम कर रहे मजदूरों को रस्से के सहारे मैनहोल से नीचे उतार देते हैं। ये मौतें प्रायः सेप्टी टैंक के भीतर मौजूद मीथेन, कार्बन मोनोऑक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड आदि जहरीली गैसों के कारण होती हैं। इन गैसों की जाँच के लिए ठेकेदार के पास माचिस की तीली जलाकर देखना और जीवित कॉकरोच डालकर जाँच करने जैसे आदिम तरीके ही होते हैं।

एक तरफ प्रधानमंत्री कुम्भ के अवसर पर सफाईकर्मियों के चरण पखारते हैं तो दूसरी ओर सीवर की गन्दगी में गहरे डूब चुके अभागे सफाईकर्मियों की लाशें जेसीबी मशीन और हाइड्रोलिक कटर के उपयोग से मैन होल को बड़ा करके निकाली जाती हैं।

सच तो यह है कि सफाईकर्मियों की सामाजिक स्थिति, उनका समाज की तलछट में पड़ी जातियों का होना, उनकी आर्थिक स्थिति, सबसे घटिया काम और वह भी सबसे कम मजदूरी पर करना, उनके प्रति शासन-प्रशासन की ऐसी लापरवाही और निष्ठुरता की वजह है। वरना आज के आधुनिक युग में, जहाँ सफाई के लिए स्वचालित मशीनों से लेकर रोबोट तक की खोज हो चुकी है, इस बर्बर तौर-तरीके को बनाये रखने की क्या वजह हो सकती है? न्याय और समता पर आधारित, एक जन हितैषी समाज-व्यवस्था ही इस अमानवीय प्रथा को खत्म कर सकती है।

लिंचिंग

(कहानी)

-- असगर वजाहत

बूढ़ी औरत को जब यह बताया गया कि उसके पोते सलीम की 'लिंचिंग' हो गयी है तो उसकी समझ में कुछ न आया। उसके काले, झुर्रियों पड़े चेहरे और धुँधली मटमैली आँखों में कोई भाव न आया। उसने फटी चादर से अपना सिर ढक लिया। उसके लिए लिंचिंग' शब्द नया था। पर उसे यह अन्दाजा हो गया था कि यह अंग्रेजी का शब्द है। इससे पहले भी उसने अंग्रेजी के कुछ शब्द सुने थे जिन्हें वह जानती थी। उसने अंग्रेजी का पहला शब्द 'पास' सुना था जब सलीम पहली क्लास में 'पास' हुआ था। वह जानती थी कि 'पास' का क्या मतलब होता है। दूसरा शब्द उसने 'जॉब' सुना था। वह समझ गयी थी कि 'जॉब' का मतलब नौकरी लग जाना है। तीसरा शब्द उसने 'सैलरी' सुना था। वह जानती थी 'सैलरी' का क्या मतलब होता है। यह शब्द सुनते ही उसकी नाक में तवे पर सिकती रोटी की सुगंध आ जाया करती थी। उसे अन्दाजा था कि अंग्रेजी के शब्द अच्छे होते हैं और उसके पोते के बारे में यह कोई अच्छी खबर है।

बुढ़िया इत्मीनान भरे स्वर में बोली-- अल्लाह उनका भला करें।

लड़के हैरत से उसे देखने लगे। सोचने लगे बुढ़िया को 'लिंचिंग' का मतलब बताया जाए या नहीं। उनके अन्दर इतनी हिम्मत नहीं थी कि बुढ़िया को बताये कि 'लिंचिंग' क्या होती है।

बुढ़िया ने सोचा कि इतनी अच्छी खबर देने वाले लड़कों को दुआ तो जरूर देनी चाहिए।

वह बोली-- बच्चों, अल्लाह करे तुम सबकी 'लिंचिंग' हो जाए।... ठहर जाओ मैं मुँह मीठा कराती हूँ।

संकट की गिरफ्त में भारतीय अर्थव्यवस्था

-- मोहित पुण्डीर

मई के अन्त तक सरकार को आखिरकार स्वीकार करना पड़ा कि जीडीपी पिछले 5 साल के सबसे निचले स्तर पर पहुँच गयी है। कॉर्पोरेट मामलों के सचिव इंजेती श्रीनिवास ने भी कहा कि "देश का समूचा गैर-वित्तीय कम्पनी क्षेत्र संकट के मुहाने पर खड़ा है।" उद्योग-धंधों में छाई सुस्ती आज अपने चरम पर है, रोज कोई न कोई बैंक कंगाली की तरफ बढ़ रहा है। शिक्षा पर लाखों खर्च करने के बाद भी छोटी-छोटी नौकरी के लिए नौजवान दर-ब-दर की ठोकरें खा रहे हैं। स्थिति इतनी भयावह है कि बेरोजगारी दर पिछले 45 सालों में सबसे अधिक है। मतलब करोड़ों रोजगार खत्म हो गये। गरीब किसानों की बढ़ती आत्महत्याएँ उनकी कंगाली-बदहाली और कृषि के चौपट होने की कहानी बयान कर रही हैं। सरकार की और से जितने नीम-हकीम नुस्खे अपनाये जा रहे हैं, यह संकट उतना ही बढ़ता जा रहा है। इस आर्थिक संकट के दौर में एक तरफ करोड़ों लोगों की जिन्दगी दाँव पर लग गयी है तो वहीं दूसरी ओर मुट्ठी भर लोगों की सम्पत्ति में बेहिसाब बढ़ोतरी का सिलसिला जारी है। सरकार के झूठ-फरेब से अलग हटकर हमें इस संकट के अलग-अलग पहलुओं और उसके असली कारणों पर विचार करना होगा।

मई महीने में मारुती सुजुकी की कुल बिक्री में 22 प्रतिशत तक की गिरावट आयी, जिसके चलते पिछले 3 महीनों में मारुती ने अपना उत्पादन 39 प्रतिशत तक घटा लिया है। मानेसर और गुरुग्राम के दो बड़े प्लांटों में छँटनी की प्रक्रिया शुरू हो गयी है, साथ ही साथ मारुती से सम्बन्धित अनेकों वेंडर कम्पनियाँ बर्बाद होने के कगार पर हैं। मारुती के अलावा आयशर, एस्कॉर्ट्स, महिन्द्रा जैसी कार और व्यवसायिक वाहन कम्पनियों में भी यही स्थिति नजर आ रही है। दरअसल पूरा ऑटो सेक्टर संकटग्रस्त है जिसके चलते पिछले 16 महीनों में लगभग 3 लाख करोड़ रुपये डूब गये। यह क्षेत्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से 3 करोड़ 70 लाख लोगों को रोजगार देता है, जिनकी जीविका पर संकट के बादल छा गये हैं। इसके अलावा सबसे ज्यादा नौकरी देने वाले निर्माण और टेक्सटाइल क्षेत्र में भी यही स्थिति बनी हुई है। अगर भारत के पूरे औद्योगिक उत्पादन पर गौर करें तो यह 21 महीनों के न्यूनतम स्तर तक गिर गया है, शीर्ष 22 में से 13 उद्योग समूहों में गिरावट आयी है। ऐसे में नये निवेश के प्रस्ताव घटकर 14 साल के निम्नतर स्तर पर आ गये हैं, कुछ साल पहले तक 25 लाख करोड़ रुपये सालाना का निवेश आज 9.5 लाख करोड़ रुपये तक सिमट गया है। इसका मतलब साफ है कि नये रोजगार सृजन का कोई अवसर नहीं है। पुराने रोजगार समाप्त होने और नये रोजगार न मिलने के चलते करोड़ों लोगों की क्रय-शक्ति में भारी गिरावट आयी और पहले से सुस्त पड़ा उपभोक्ता बाजार और गहरे संकट में फँस चुका है। यह चक्र हर बार संकट को और गहरा करता जा रहा है।

भारत का सार्वजनिक क्षेत्र भी आज इस संकट से अछूता नहीं रह गया है। पिछले डेढ़ साल में देश की सबसे बड़ी गैस और तेल उत्पादक कम्पनी, आयल एंड नेचुरल गैस कारपोरेशन (ओएनजीसी) के नगदी भंडार में 9,344 करोड़ रुपये की कमी आ गयी है। हालत यह हो गयी है कि भारत की नवरत्न कही जाने वाली इस कम्पनी के पास कर्मचारियों को वेतन-भत्ते देने तक के रुपये नहीं बचे हैं। 63 साल में कम्पनी का यह सबसे बुरा प्रदर्शन रहा है। महानगर टेलीफोन निगम लिमिटेड (एमटीएनएल) और भारत संचार निगम लिमिटेड (बीएसएनएल) दोनों सरकारी दूरसंचार कम्पनियाँ अभूतपूर्व संकट से गुजर रही हैं। एक तरफ एमटीएनएल का नुकसान वित्त वर्ष 2018-19 में बढ़कर 832.26 करोड़ रुपये हो गया है तो वहीं दूसरी तरफ बीएसएनएल 31,287 करोड़ रुपये के घाटे में चल रही है। इन दोनों दूरसंचार उपक्रमों में कार्यरत 2 लाख से अधिक लोगों की नौकरी पर खतरा मंडरा रहा है। यही स्थिति हिन्दुस्तान ऐरोनॉटिक्स लिमिटेड (एचएएल) और एयर इण्डिया की भी है। साथ ही साथ डाक विभाग भी 15 हजार करोड़ रुपये के घाटे में चल रहा है। पिछले 5 साल में पेट्रोल-डीजल की लागत से लगभग तीन गुना कीमतें वसूलने के बावजूद भी तीनों सरकारी तेल कम्पनियों का कर्ज दस साल के उच्चतम स्तर पर है।

बीएसएनएल और एचएएल की बर्बादी की कीमत पर सरकार ने अम्बानी को आबाद किया था, इसी तर्ज पर देश के अन्य सार्वजनिक उपक्रमों को भी निजी मुनाफे की भेंट चढ़ाया जा रहा है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाने के लिए सरकार ने जनता की गाढ़ी कमाई से निर्मित इन सरकारी उपक्रमों और उसमें कार्यरत लाखों कर्मचारियों को कंगाली की ओर धकेल दिया है।

1991 के बाद से ही, नवउदारवादी नीतियों की पक्षधर सभी सरकारों ने देश के विकास में सार्वजानिक उपक्रमों को अक्षम बताकर निजी मुनाफे पर आधारित उद्योगों को बढ़ावा दिया।

लेकिन सरकारों द्वारा फैलाया गया यह भ्रम ज्यादा दिन तक टिक नहीं पाया। आज तबाही की अनेक घटनाएँ इसकी पुष्टि कर रही हैं। पिछले दिनों भारत की दूसरी सबसे बड़ी एयरलाइन्स कम्पनी जेट एयरवेज ने बिना किसी पूर्व सूचना के अपने 20 हजार कर्मचारियों को नौकरी से निकाल दिया। इस कम्पनी पर 8 हजार 500 करोड़ रुपये का कर्ज है। डॉलर के मुकाबले रुपये के कमजोर होने से इसका विदेशी मुद्रा खर्च बढ़ता गया। बैंकों से कर्ज लेकर तत्काल इसकी भरपाई तो होती रही, पर अन्दर ही अन्दर इसका संकट और ज्यादा गहराता गया और आखिरकार इसने खुद को दिवालिया घोषित कर दिया। किंगफिशर एयरलाइन्स, एयर डेक्कन और एयर सहारा के बाद बर्बाद होने की कड़ी में जेट एयरवेज भी शामिल हो गयी है। अनिल अम्बानी की कम्पनी रिलायंस कैपिटल पर बैंकों का 600 करोड़ रुपये बकाया है, इससे अम्बानी के दिवालिया होने की नौबत आ गयी थी।

इस बर्बादी का बोझ अन्ततः आम जनता पर ही पड़ता है। जेट एयरवेज को बचाने के लिए सरकार ने एसबीआई और पीएनबी को आगे कर दिया है, जिसका मतलब साफ है। इन बैंकों में जमा आम जनता की गाढ़ी कमाई दाँव पर लगा दी गयी है। बर्बाद होती कम्पनियों का एक बड़ा हिस्सा गैर-बैंकिंग संस्थायें हैं जिसमें म्यूचुअल फण्ड, बीमा कम्पनियाँ और पेंशन फण्ड मुख्य हैं। ऐसे में मध्यम वर्ग का एक बड़ा तबका जो छोटी-छोटी बचत करके इनमें धनराशि जमा करता था वह सब अब उद्योगपतियों की मुनाफे की हवस का शिकार हो रही है। एलआईसी का इस्तेमाल सरकार 1980 के दशक से ही संकटग्रस्त इकाइयों को उबारने के लिए करती रही है और अब ईपीएफओ को भी इसी उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है।

गौरतलब है कि आर्थिक संकट का बोझ किस पर पड़ रहा है? जैसे-जैसे आर्थिक संकट बढ़ रहा है पूँजीपति पहले से बदहाल और परेशान मेहनतकश जनता के खून की एक-एक बूँद को मुनाफे में बदलने पर उतारू हैं। पनगढ़िया सलाह दे रहे हैं कि "आक्रामक निजीकरण होना चाहिए।" मतलब मेहनतकशों के बचे-खुचे हकों को भी खत्म करो। शेयर बाजार से करोड़ों कमाने वाले सट्टेबाज झुनझुनवाला का कहना है कि "जनतंत्र अर्थव्यवस्था की वृद्धि में बाधा है।" मतलब साफ है लोकतंत्र का बचा-खुचा आवरण भी उतारकर मेहनतकश जनता पर सीधी तानाशही कायम करो। हद तो यह है कि जिन नवउदारवादी नीतियों-- निजीकरण-उदारीकरण के चलते अर्थव्यवस्था तबाही की ओर धकेली जा रही है, उसे ही अब और तेजी से आगे बढ़ाने के सुझाव आने लगे हैं। आर्थिक सुधारों को तेज करने का यही आशय है। यह संकट आज अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में व्याप्त है। यह ढाँचागत संकट है। इसे नीम-हकीम इलाज से हल नहीं किया जा सकता। मुनाफा केन्द्रित व्यवस्था इसकी पोषक है। इसकी जगह मानव केन्द्रित व्यवस्था ही इसका विकल्प हो सकती है।

बेरोजगारी बनी बीमारी

मालदा मेडिकल कॉलेज में चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों के 2 पदों को भरने के लिए 300 से ज्यादा आवेदन आये। यह पद मृत शरीर और अंगों के रखरखाव के लिए थे। 300 आवेदनों में से 75 पीएचडी कर रहे थे या एमफिल में रजिस्टर्ड थे।

50,000 से ज्यादा स्नातक 28,000 परास्नातक और 3,700 पीएचडी करने वालों ने पोस्टमैन की 62 पदों के लिए आवेदन किया। इसके अलावा एमबीए और बीटेक वाले भी शामिल थे। 93 हजार आवेदन कर्ताओं में से 7,400 ही ऐसे थे जिन्होंने केवल पाँचवी से लेकर 12वीं तक पढ़ाई कर रखी है। इसके लिए न्यूनतम योग्यता है पाँचवी पास।

जादवपुर यूनिवर्सिटी में चपरासी के 70 पदों के लिए 11,000 से ज्यादा लोगों ने आवेदन किया। आवेदन कर्ताओं में पीएचडी, एमएससी, एमटेक, बीटेक और बीएससी डिग्री धारक शामिल थे। इन पदों को भरने के लिए न्यूनतम योग्यता आठवीं पास है और शुरुआती तनख्वाह 15,000 रुपये प्रतिमाह है।

मुम्बई पुलिस में सिपाही पद के लिए 1137 रिक्तियों पर दो लाख से भी ज्यादा आवेदन आये जिसमें 423 बीटेक धारी, 167 एमबीए, 543 परास्नातक थे। 28 बीएड, 34 एमएससी (कम्प्यूटर), 159 एमएससी, 25 ने पत्रकारिता का कोर्स किया था। तीन ने आयुर्वेद मेडिकल साइंस में स्नातक किया था। तीन एलएलबी किये हुए थे और 167 बीबीए किये हुए थे। एक सिपाही को रहने के लिए क्वार्टर मिलता है और 25,000 रुपये प्रतिमाह उसकी तनख्वाह है।

भारतीय रेल में 90,000 पदों की भर्ती के लिए ढाई करोड़ लोगों ने आवेदन किया है। यह ऑस्ट्रेलिया की जनसंख्या से भी ज्यादा है।

(मंथली रिव्यू से साभार)

विश्वव्यापी आर्थिक संकट का कोढ़ भारत में फूटने के कगार पर

-- विक्रम प्रताप

बाढ़ की सम्भावनाएँ सामने हैं,
और नदियों के किनारे घर बने हैं।
चीड़-वन में आँधियों की बात मत कर,
इन दरख्तों के बहुत नाजुक तने हैं।

-- दुष्यंत कुमार

भारत की अर्थव्यवस्था आज इतनी खोखली हो गयी है कि किसी भी दिन इसमें भूचाल आ सकता है। बैंकों की बदहाली, बहुत भारी व्यापार घाटा, रुपये का अवमूल्यन, आसमान छूती महँगाई, बढ़ती बेरोजगारी, आदि इस संकट की अभिव्यक्तियाँ हैं लेकिन इस संकट की जड़ें अमरीका से शुरू हुए विश्वव्यापी संकट में हैं। वह 2008 की वैश्विक मन्दी का दौर था, जब विकसित देश मन्दी की मार से बेहाल थे।

2008 में आयी विश्वव्यापी मन्दी को दस साल से अधिक समय हो गया। उस समय मन्दी के जिस काले साये ने दुनिया की अर्थव्यवस्था को अपनी चपेट में ले लिया था, वह कभी दूर नहीं हुआ। अर्थव्यवस्था में ऊपरी तौर पर दिखायी देने वाली तेजी बादलों के बीच यहाँ-वहाँ बिजली की चमक बनकर रह गयी। ऊपरी चमक-दमक के नीचे मन्दी हमेशा ही मौजूद रही और यह न केवल दुनिया भर के अर्थशास्त्रियों की परेशानी का सबब बनी रही, बल्कि लगभग सभी देशों में इसने कहर बरपाये। लगभग हर इनसान की जिन्दगी में विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा, बस उन लोगों को छोड़कर जो इस व्यवस्था में सबसे खास जगह रखते हैं। लोगों की आमदनी घट गयी। नौकरियाँ छिन गयीं। भविष्य अंधकारमय हो गया। जिन्दगी के प्रति उम्मीदें धूल-धूसरित हो गयीं। इस मन्दी ने इनसान की जिन्दगी के हर पहलू पर बुरा प्रभाव डाला। इन सबके बावजूद आज भी बड़ी संख्या में लोग इस भयावह मन्दी से अनजान हैं। भारत में इसका प्रभाव भारी मुसीबत लाने वाला साबित हुआ। हाल ही में जेट एयरवेज की तबाही से 20 हजार लोगों की नौकरियाँ एक झटके में छिन गयीं। वे सड़कों पर भूखों मरने के लिए धकेल दिये गये। लेकिन लोग नहीं जानते कि ऐसा क्यों हुआ? भारत में लोग किस्मत को कोसकर चुप हो जाते हैं, अमरीका और यूरोप में धरने-प्रदर्शन करके।

आखिर 2008 में हुआ क्या था? बात इतनी पुरानी हो गयी है कि 2008 में जो बच्चे निश्चिंत होकर गलियों में खेल-कूद रहे थे, वे आज नौकरी की तलाश में मारे-मारे फिर रहे हैं। उनके माथे पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आयी हैं। ढेर सारे लोग जो 2008 की घटना के गवाह हैं, उनके भी मनस पटल से स्मृति की रेखाएँ धुँधली होती जा रही हैं। अधिकांश लोग तो जिन्दगी की जद्दोजहद में इतने खो गये हैं कि उन्हें फुर्सत नहीं, कि मुड़कर पीछे देखें। फिर भी वह एक भयावह घटना थी। 2008 में दुनिया की अर्थव्यवस्था में बहुत बड़ा भूचाल आया था।

2008 के मुख्य झटके से एक साल पहले कई दैत्याकार अमरीकी कम्पनियाँ घाटे और ताला-बन्दी के कगार पर पहुँच गयी थीं। डॉलर के मूल्य में गिरावट और सब प्राइम कर्ज संकट के कारण सिटी बैंक, मेरिल लिंच और बीयर स्टर्न जैसे कई बड़े अमरीकी बैंकों को हजारों करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। 2007 की तीसरी तिमाही में दैत्याकार अमरीकी निगमों के मुनाफे में 77,200 करोड़ रुपये की गिरावट आयी थी जबकि उनकी घरेलू कमाई में 1,68,800 करोड़ रुपये की कमी देखी गयी थी। 2008 की पहली तिमाही में अमरीका के सिटी बैंक को 20 हजार करोड़ रुपये का नुकसान हुआ था। इस बैंक के 200 वर्षों के इतिहास में इतना बड़ा घाटा पहली बार हुआ था। मई 2008 में बीयर स्टर्न बैंक की तबाही से अमरीकी अर्थव्यवस्था में अफरा-तफरी मच गयी थी। सितम्बर 2008 में दो बड़े निवेश बैंकों लेह्मन ब्रदर्स और मेरिल लिंच तथा अमरीकी इण्टरनेशनल ग्रुप (एआईजी) के डूबने की धमक पूरी दुनिया में महसूस की गयी। यहाँ तक कि मुम्बई शेयर बाजार भी धड़ाम से गिर गया। इन तीनों बैंकों की हैसियत बीयर स्टर्न से कई गुना अधिक थी। यह मन्दी 1929 के बाद की सबसे बड़ी मन्दी थी। 158 साल पुराने अमरीका के चौथे बड़े निवेश बैंक लेह्मन ब्रदर्स को अमरीकी रिजर्व बैंक भी डूबने से नहीं बचा पाया। उस पर कुल 2.82 लाख करोड़ रुपये का कर्ज था। लेह्मन ब्रदर्स अपनी 94 फीसदी सम्पत्ति गँवाकर दिवालिया हो गया। बैंक के 25,000 कर्मचारी बेरोजगार हो गये। इन कर्मचारियों के पास कम्पनी के एक तिहाई शेयर थे जिनका मोल कौड़ी के बराबर

भी नहीं रह गया। इसके तुरन्त बाद अमरीका के तीसरे सबसे बड़े बैंक मेरिल लिंच और बीमा कम्पनी एआईजी की बर्बादी ने संकट को एक बिल्कुल ही नये और खतरनाक स्तर पर ला दिया।

तत्काल यह संकट कई देशों में फैल गया। जापान के मित्सुबिसी यूएफजे वित्तीय समूह को 7.7 फीसदी और ऑस्ट्रेलिया के बेवकॉक और ब्राउन को सबसे ज्यादा 34 फीसदी का नुकसान हुआ। अमरीका के एआईजी के क्रेडिट में 61 फीसदी की गिरावट आयी। इस संकट से भारत भी अछूता नहीं रहा। आईसीआईसीआई बैंक को भारत में लगभग 150 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और पंजाब नेशनल बैंक के 50-50 लाख डॉलर लेह्मन ब्रदर्स में निवेश के कारण डूब गये। लेह्मन ब्रदर्स की भारतीय शाखा में काम कर रहे 2,500 कर्मचारियों की नौकरी रातोंरात चली गयी। लेह्मन ब्रदर्स में भारतीय आईटी कम्पनियों टाटा कन्सल्टेन्सी, सत्यम् कम्प्यूटर्स और विप्रो का सालाना 1,600 करोड़ रुपये का कारोबार होता था जो खत्म हो गया। यह तो महज शुरुआत थी।

अभी दुनिया की अर्थव्यवस्था चैन की साँस भी नहीं लेने पायी थी कि 2010 की शुरुआत में मन्दी फिर आ धमकी। इस तरह अर्थव्यवस्था के जल्द दुबारा मन्दी में फँसने को द्विआवर्ती मन्दी कहा गया। उसी साल यूनान में सम्प्रभु कर्ज संकट शुरू हो गया था। इसके चलते यूनान की सरकार ने कई जनविरोधी कदम उठाये, जैसे-- मजदूरों की छँटनी, वेतन-भत्ते में कटौती, शराब, सिगरेट, ईंधन और विलासिता की अन्य वस्तुओं पर टैक्स में वृद्धि, सेवानिवृत्ति की आयु बढ़ाकर 61 से 65 वर्ष करना और 6000 में से 4000 सरकारी कम्पनियों का निजीकरण। इन उपायों को अपनाते ही यूनान में जन-संघर्ष फूट पड़ा था। मई 2010 में स्पेन, जर्मनी, फ्रांस, इटली और नीदरलैण्ड की विकास दर क्रमशः 0.1, 0.2, 0.1, 0.5 और 0.2 प्रतिशत थी। 2009 में पुर्तगाल का बजट घाटा जीडीपी का 9.4 प्रतिशत था। पुर्तगाल ने भी वेतन कटौती और छँटनी की कार्रवाई को सही ठहराया था। दूसरी ओर स्पेन के सम्पत्ति बाजार में तब आयरलैण्ड की तरह ही विस्फोट हो गया, जब वैश्विक वित्तीय संकट ने आघात किया। इससे स्पेन लगभग दो साल की गहरी मन्दी में डूब गया, जिससे सरकारी खजाने पर बहुत भारी दबाव पड़ा था।

तब से यह सिलसिला आज तक चल रहा है। किसी न किसी देश में मन्दी का लाइलाज कोढ़ कभी न कभी फूट ही पड़ता है। 2011 में दो बड़ी घटनाएँ हुईं-- वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन और अमरीका का कर्ज सीलिंग संकट। उस साल अमरीका का सरकारी कर्ज 14,00,000 करोड़ डॉलर को पार कर गया था। यह राशि भारत के कुल सकल घरेलू उत्पाद के आठ गुने से भी ज्यादा थी। इसके चार मुख्य कारण थे-- बहुराष्ट्रीय निगमों और अमीरों को टैक्स में भारी छूट देना, इराक और अफगानिस्तान के खिलाफ युद्ध में भारी खर्च, 2008 के बाद वैश्विक मन्दी में बर्बाद हुए बड़े निगमों, बैंकों, इन्श्योरेन्स कम्पनियों और आर्थिक व्यवस्था को बचाने के लिए फेडरल बैंक द्वारा दी गयी बड़ी वित्तीय सहायता और लगातार संकट के बावजूद कर्ज लेकर उपभोग के ऊँचे स्तर को बनाये रखना।

मन्दी से लड़ने के नाम पर अमरीकी सरकार सुधारों का जाप करते हुए समाज कल्याण के कामों में लगातार कटौती करती जा रही थी और पूँजीपति कर्मचारियों की छँटनी में लगे हुए थे। नतीजन, वहाँ काम करने की उम्र का हर छठा आदमी बेरोजगार हो गया था। लोग अपने सगे सम्बन्धियों या दोस्तों के रहमोकरम पर जिन्दा थे और उनके मन में व्यवस्था के प्रति आक्रोश सुलगने लगा था। "वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन" में जनता की व्यापक हिस्सेदारी के पीछे यही कारण था। इस आन्दोलन का नारा था-- 99 प्रतिशत जनता की ओर से 1 प्रतिशत पूँजीपतियों और सट्टेबाजों को चुनौती। यह आन्दोलन लगभग 84 देशों में फैल गया। कल्याणकारी योजनाओं में कटौती, विश्वव्यापी मन्दी, बेरोजगारी और महँगाई के खिलाफ दुनिया भर की जनता सड़कों पर उतर आयी थी। लेकिन परिवर्तनकारी मनोगत शक्तियों के अभाव में दुनिया में कोई आमूल-चूल परिवर्तन किये बगैर ही वह स्वतःस्फूर्त आन्दोलन इतिहास के पन्नों में खो गया।

भारत पर मन्दी का कहर

रुपये का अवमूल्यन अर्थव्यवस्था की सेहत मापने का एक आसान नुस्खा है। 1947 के बाद कई बार रुपये का अवमूल्यन हो चुका है लेकिन 1991 के बाद इसमें काफी तेजी आयी। नीचे की तालिका देखिये--

तालिका : 1 डॉलर की तुलना में रुपये की कीमत

वर्ष	रुपये की कीमत
1947	1.00
1966	7.50
1990	17.50
1995	34.96
2010 (1 जून)	46.69
2012 (1 जून)	55.92
2016 (1 जून)	67.35
2019 (2 जून)	69.57

स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

तालिका से साफ पता चलता है कि 1990 से 1995 के बीच रुपये का लगभग सौ प्रतिशत तक अवमूल्यन हो गया था। यह भारतीय अर्थव्यवस्था में सबसे बड़े संकट का द्योतक था। यह वही

दौर था, जब भारत के शासक वर्ग ने आत्मनिर्भर विकास को तिलांजलि देकर वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों को स्वीकार कर लिया था। रुपये का अवमूल्यन करना भी इन नीतियों में शामिल था। इन नीतियों के जरिये भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक अर्थव्यवस्था से नत्थी कर दिया गया। लेकिन जनता के भारी विरोध के चलते इन्हें टुकड़े-टुकड़े में लागू किया गया। इसके लिए तीन दशक का लम्बा समय लिया गया और यह प्रक्रिया आज भी जारी है। इन नीतियों ने देश के विकास की दिशा और दशा बदल दी। 2008 की वैश्विक मन्दी देर से ही सही, भारत पर अपना असर दिखाने लगी। 2010 में डॉलर के मुकाबले रुपये की कीमत 46.69 थी, जो गिरकर महज दो साल बाद 55.92 पर आ गयी। यह गिरावट आज भी जारी है, जिसका नतीजा है कि इस साल जून की शुरुआत में डॉलर के मुकाबले रुपये की कीमत 69.57 पर आ गयी। यानी पिछले आठ सालों में लगभग 49 प्रतिशत की गिरावट। यह तस्वीर और भी भयावह है क्योंकि इसी दौरान खुद डॉलर की कीमत में भी गिरावट हुई है। अगर क्रय शक्ति की क्षमता के हिसाब से देखा जाये तो रुपये में इस आँकड़े से भी बड़ी गिरावट हुई है।

2010 में मासिक व्यापार घाटा लगभग 10 अरब डॉलर था जो आज बढ़कर 15 अरब डॉलर से ऊपर चला गया है। यानी निर्यात के मुकाबले हर महीने 15 अरब डॉलर से अधिक का आयात हो रहा है। इन सबके बावजूद सरकार मन्दी की क्रूर सच्चाइयों पर पर्दा डाल रही है।

हर बार जब घरेलू बाजार संकटग्रस्त होता है तो विदेशी निवेशक अपनी पूँजी निकालकर उड़नछू हो जाते हैं। कम्प्यूटर और इन्टरनेट की तीव्रता इन मौकापरस्तों का काम आसान कर देती है। एस एण्ड पी रेटिंग एजेंसी ने जुलाई 2018 में ही आगाह कर दिया था कि भारत पर मुद्रा बर्हिगमन का दबाव बढ़ता जा रहा है। 2018 में ही भारत के शेयर बाजार से विदेशी संस्थागत निवेशक 1 लाख करोड़ रुपये की पूँजी लेकर फरार हो गये जबकि 2017 में उन्होंने शेयर बाजार में कुल 2 लाख करोड़ रुपये का निवेश किया था। 2018 में मुद्रा बर्हिगमन पिछले 10 सालों में सबसे अधिक रहा। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था और अधिक संकटग्रस्त हो गयी।

यह उन उपायों का नतीजा है, जिनके चलते सरकार ने मुनाफे के भूखे इन वैश्विक भेड़ियों (विदेशी संस्थागत निवेशकों) के लिए अर्थव्यवस्था के कपाट पूरी तरह खोल दिये थे। इन्हें लुभाने के लिए सरकार कई जनविरोधी कदम उठा चुकी है, जैसे-- रहे-सहे श्रम कानूनों को खत्म कर दिया गया जो श्रमिकों के हितों की रक्षा करते थे। इससे देशी-विदेशी पूँजीपतियों के लिए श्रमिकों का शोषण और आसान हो गया। जनवरी 2018 में एकल ब्रांड के खुदरा व्यापार और रीयल स्टेट ब्रोकिंग सर्विस में 100 प्रतिशत तथा विमानन में 49 प्रतिशत के प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को छूट दे दी गयी। पहले दो क्षेत्रों में एफडीआई को स्वचालित मार्ग (यह सरकार के नियंत्रण में नहीं होगा।) से आने की अनुमति दी गयी जबकि विमानन में एफडीआई सरकार के नियंत्रण में रहेगी। श्रमिक और व्यापार संगठनों ने सरकार के इन कदमों का भारी विरोध किया था।

एकल ब्रांड के खुदरा व्यापार में 100 प्रतिशत एफडीआई आमन्त्रित करने से डिकैथलान जैसी एकल ब्रांड की खुदरा कम्पनियों का बाजार पर कब्जा होता जा रहा है। वित्तवर्ष 2018 में फ्रांसिसी कम्पनी डिकैथलान ने भारत में 1278 करोड़ रुपये की कमायी की। यह एडिडास (1157 करोड़), पुमा (1132 करोड़), नाइक (828 करोड़) आदि कम्पनियों को पीछे छोड़ते हुए दूसरे नम्बर पर आ गयी है। डिकैथलान के भारत में 70 विशालकाय स्टोर हैं जिसके जरिये वह खेल के जूते से लेकर पर्वतारोहण तक के सभी सामान बेचती है। पहले नम्बर पर चीन की इलेक्ट्रोनिक कम्पनी शाओमी है जिसका मुख्यालय बीजिंग में है। 2018 में शाओमी ने भारत में अपने 79 विशालकाय स्टोरों और ऑनलाइन बिक्री के जरिये 23,060 करोड़ रुपये की कमायी की। यह पिछले साल की कमायी से 175 प्रतिशत अधिक है। इसने अपने रेडमी फोन के माध्यम से बाजार पर दबदबा कायम कर लिया है। इन कम्पनियों की सबसे खास बात है कि ये उच्च शिक्षित नौजवानों को मजदूरी पर रखती हैं और उनसे बहुत कम पैसों पर काम कराती हैं। मजदूरों के हित में श्रम-कानून न होने के चलते ये मजदूरों का बेइन्तहा शोषण करती हैं और अकूत मुनाफा कमाती हैं। ये खुदरा बाजार के बड़े हिस्से पर अपना कब्जा जमाती जा रही हैं। इससे छोटे खुदरा व्यापारियों की तबाही बड़े पैमाने पर शुरू हो गयी है। उन्हें व्यापार में घाटा झेलना पड़ रहा है क्योंकि उनकी दुकान पर ग्राहक नदारद हैं। एफडीआई आमन्त्रित करके थोड़ी देर के लिए राहत महसूस की जा सकती थी। लेकिन इन उपायों से मन्दी का संकट तो हल होना नहीं, जबकि मेहनतकश जनता की हालत और खराब होती चली जा रही है।

मौजूदा सरकार के पिछले कार्यकाल में सरकार पर कुल कर्ज 49 प्रतिशत तक बढ़ गया। यह 2014 में 54,90,763 करोड़ रुपये था जो जनवरी 2019 में बढ़कर 82,03,253 करोड़ रुपये हो गया था। वित्त मंत्रालय की वेबसाइट पर दिये आँकड़े के अनुसार दिसम्बर 2018 को भारत पर कुल विदेशी कर्ज 35,91,667 करोड़ रुपये था। इसमें 81 प्रतिशत लम्बी अवधि और मात्र 19 प्रतिशत छोटी अवधि के कर्ज थे। जबकि अप्रैल 2019 में विदेशी मुद्रा भण्डार 26,90,443 करोड़ रुपये था। अगर विदेशी कर्ज और विदेशी मुद्रा भंडार की तुलना करें तो स्थिति बहुत निराशाजनक नजर आती है। इसका मतलब कुल प्रभावी मुद्रा भण्डार नकारात्मक हो चुका है।

2008 की मन्दी के समय देश का शासक वर्ग इस खुशी से मदमस्त था कि लेहमन ब्रदर्स, एआईजी जैसे अमरीकी दैत्याकार बैंकों की बरबादी के बावजूद भारत का बैंकिंग क्षेत्र सुरक्षित है। लेकिन आज दस साल बाद ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। आज चारों

ओर बैंकिंग क्षेत्र की तबाही की चर्चाएँ चल रही हैं। देश में बैंक से सरोकार रखने वाला शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसे यह पता न हो कि भारत का बैंकिंग क्षेत्र भारी संकट से गुजर रहा है। 2017-18 में पंजाब नेशनल बैंक का कुल 85,369 करोड़ रुपया बट्टा खाते (एनपीए) में डूब गया। रिजर्व बैंक और वित्त मंत्रालय ने 2017-18 के एक वित्त वर्ष में बैंकों के कुल नुकसान की गणना की जो 2.7 लाख करोड़ रुपये था। यह पिछले वित्त वर्ष से 57 प्रतिशत अधिक था। पिछले वित्त वर्ष के अन्त तक सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का कुल एनपीए 8.95 लाख करोड़ रुपये था। यह राशि भारत सरकार के शिक्षा बजट से तीन गुना अधिक है।

भारत में जारी मन्दी ने बैंकिंग क्षेत्र को बेहाल कर दिया है। ऊपरी तौर पर देखने से यह लग सकता है कि बैंकों में जमा जनता की पूँजी की बन्दरबाँट के चलते यह संकट पैदा हुआ है, जिसमें सरकार ने दिल खोलकर बड़े पूँजीपतियों की झोली भरी। लेकिन यह आंशिक सच्चाई है। वास्तव में यह संकट उन नीतियों का ही जारी परिणाम है जिसकी शुरुआत 1990-91 में मुक्त व्यापार और वैश्वीकरण के नाम पर की गयी थी।

मार्च 2017 में एसबीआई का कुल एनपीए 58,277 करोड़ रुपये था। इस नुकसान को शेयर बाजार में लगी पूँजी से जोड़कर देखिए। हम सभी जानते हैं कि 2008 की मन्दी में एसबीआई की पूँजी शेयर बाजार में डूब गयी थी। लेकिन उस समय खतरा बड़ा नहीं था क्योंकि शेयर बाजार में एसबीआई की हिस्सेदारी कम थी। उस समय सरकार ने इस बात के लिए खुद को शाबाशी दी थी। लेकिन उस सबक को भुला दिया गया और सटोरिया पूँजी में बैंकों की बढ़ती भागीदारी ने आखिरकार एसबीआई के साथ लगभग सभी सार्वजनिक बैंकों को बरबादी के कगार पर ला दिया। परदे के पीछे छिपा सच यह है कि सरकार ने लोगों की बचत, पेंशन फंड और बैंकों में जमा अन्य राशियों को शेयर बाजार में लगा दिया है। मन्दी के गहराते बादलों के बीच शेयर बाजार कभी भी धराशायी हो सकता है, जिससे बैंकों की कुल पूँजी के डूब जाने का खतरा पैदा हो गया है। सरकार और देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने आपसी साँठ-गाँठ से जो दलदल तैयार किया है, पूरी अर्थव्यवस्था उसमें तिरोहित होने की ओर बढ़ रही है।

संकट से बचने के लिए तेज वृद्धि दर, शेयर और मुद्रा बाजार में जोखिम रहित ऊँचे मुनाफे की गारण्टी तथा देश की रही-सही सार्वजनिक सम्पत्ति को कौड़ियों के मोल लुटाकर विदेशी निवेशकों को दुबारा आकर्षित करने की योजना बनायी गयी और उसे लागू किया गया। इस तरह देश की बहुसंख्यक जनता की चिन्ता को दरकिनार करके वित्तीय कम्पनियों के चरणों में सिर झुका दिया गया। आज पूरे देश में पूँजी की नंगी लूट चल रही है। पूँजी ही आज सरकार का ईमान और भगवान है। लेकिन वह किसी के काबू में आने वाली नहीं क्योंकि नवउदारवादी दौर में पूँजी का चरित्र आवारा बन गया है। वह लम्पटई पर उतर आयी है। अपने सबसे पक्के आशिक यानी पूँजीपति वर्ग के साथ ही बेवफाई कर रही है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत एक धीमी लेकिन चिरकालिक मन्दी के भँवर में फँस गया है। विदेशी निवेशक भारतीय शेयर बाजार से उड़नछू होते रहते हैं। विदेशी निवेश की बैसाखी पर निर्भर देश की अर्थव्यवस्था लड़खड़ाती रहती है। सरकार अर्थव्यवस्था की हर लड़खड़ाहट के बाद अमरीका और अन्य साम्राज्यवादी देशों से कहीं अधिक शर्मनाक शर्तों पर बँधती चली जा रही है।

दिसम्बर 2011 के 'देश-विदेश' में मैंने '*वैश्विक मन्दी : वित्तीय पूँजी की लाइलाज बीमारी*' लेख में जो बातें वैश्विक मन्दी और अमरीका के बारे में लिखी थी, वह आज के भारत के बारे में हुबहू लागू होती हैं।

"पिछले कई वर्षों से अमरीका और वैश्विक अर्थव्यवस्था का रुझान दो दिशाओं में बहुत तेजी से बढ़ा है। कर्ज लेकर देश की अर्थव्यवस्था चलाना और दूसरा वित्तीय पूँजी के दानव का पैदा होना, बढ़ना और धरती को विनाश की ओर ले जाना। एक समय था जब विकास की दिशा में अग्रसर किसी देश की अर्थव्यवस्था पर छोटी अवधि के कर्ज ही विकास की चालक शक्ति हुआ करते थे, लेकिन अब कर्ज संकट का यह भस्मासुर अपने ही जनक को मारने पर तुला है। कर्ज संकट और वित्तीय पूँजी में वृद्धि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। 1970 के दशक से नये-नये और उत्तरोत्तर जटिल वित्तीय उपकरण जैसे- फ्यूचर्स, आपसन्स और स्वैप, शेयर बाजार में उतरते गये। ये उपकरण खिलाड़ियों को जोखिम रहित अधिक मुनाफे का प्रलोभन देते हैं। लेकिन असली अर्थव्यवस्था के बुलबुले के नीचे फैले इस विशालकाय विस्फोटक को जितना ही अधिक सुरक्षित खोल पहनाकर इसके वजन को बढ़ाया गया, यह भविष्य के लिए उतना ही ज्यादा खतरनाक होता गया।

"... वित्तीय पूँजी ने दुनियाभर में अमीरी-गरीबी की खाई और कंगालीकरण को बढ़ाया है। परजीवी और उपभोक्तावादी सांस्कृतिक मूल्य-मान्यताओं से मानवीय जिन्दगी की गरिमा को नष्ट किया है। इनमें अर्थव्यवस्था के वित्तीयकरण की ओर रुझान सबसे अधिक चिन्ता का विषय है। अब निवेशक माल उत्पादन में निवेश के बजाय पैसे से पैसा बनाना चाहते हैं, क्योंकि माल उत्पादन करने वाली असली अर्थव्यवस्था ठहरावग्रस्त हो चुकी है। लेकिन बिना माल उत्पादन के हमारा समाज एक दिन भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसके चलते समाज लगातार भौतिक अवनति की ओर अग्रसर है जिसका नतीजा पूरी दुनिया आर्थिक मन्दी के रूप में झेल रही है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था अब समाज को आगे गति देने में खुद को अक्षम पा रही है।

"... आज अतिरिक्त पूँजी उद्योग में न लगकर वित्तीय क्षेत्र में सट्टेबाजी के लिए उपयोग की जा रही है, जो पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था को संकटग्रस्त कर रही है। इसलिए आज मजदूरों का शोषण करके मुनाफे के जरिये पूँजी संचय को जायज नहीं ठहराया जा सकता। यह नैतिक आधार पर ही नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टिकोण से भी गलत कदम है, क्योंकि ऐसी स्थिति में मजदूरों की क्रय शक्ति गिरने से बाजार में माँग घट जाएगी और संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था पहले से भी अधिक सिकुड़ जाएगी। इस तरह आज पूँजीवाद का यह आत्मघाती दुश्चक्र दुनिया की भौतिक प्रगति में सहायक न होकर उसे पतन के गर्त में ले जा रहा है।"

पेट्रोल, डीजल, कुकिंग गैस और उर्वरकों जैसे बुनियादी मालों की कीमतें बढ़ने से अर्थव्यवस्था के लगभग हर क्षेत्र में महँगाई बढ़ गयी। जिस अनुपात में महँगाई बढ़ी उसी अनुपात में जनता की क्रय शक्ति गिर गयी। इससे जनता की माली हालत खराब होती चली गयी। इससे साफ पता चलता है कि देश की जनता की कीमत पर उच्च वर्ग के मुट्ठीभर लोगों का विकास किया गया। पूँजीवादी विकास का यह नवउदारवादी मॉडल भारी असमानता पैदा करने वाला साबित हुआ है। इससे अमीर और अमीर होते जा रहे हैं जबकि गरीब और अधिक गरीब। जब भारतीय अर्थव्यवस्था छलांग लगाकर बढ़ रही थी, उस समय भी रोजगार में वृद्धि न के बराबर थी। आज कृषि पर निर्भर देश की आधी जनता भयानक गरीबी में जीवन बसर कर रही है। दिल्ली से बहने वाली विकास की गंगा का पानी उस तक नहीं पहुँचता। वह अर्द्ध-बर्बर अवस्था में जीने को अभिशप्त है। सेवा क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी और साफ्टवेयर से जुड़े अंग्रेजीभाषी कर्मचारियों, मीडियाकर्मी, नेता-अभिनेता और क्रिकेटरों की आमदनी काफी तेजी से बढ़ी है। लेकिन दूसरी ओर सेवा क्षेत्र के अधिकांश छोटे व्यवसायी, जैसे-- सैलून, होटेल और रेस्त्रां के मजदूर, बिजली, गैस और जल आपूर्ति से जुड़े मजदूर, निजी शिक्षण संस्थानों के ठेका शिक्षक और कर्मचारी, आदि की जिन्दगी दिन-ब-दिन आर्थिक तबाही की ओर जा रही है।

एकांगी विकास का नतीजा है कि एक ओर अरबपतियों की संख्या में रिकार्ड उछाल आ रहा है तो दूसरी ओर मेहनतकश वर्ग की थाली से अनाज हर बीते दिन कम होता जा रहा है। ऐसी हालत में देश के मुट्ठीभर अरबपतियों और 10-12 प्रतिशत मध्यम वर्ग को साथ लेकर चलने वाले विकास का संकटग्रस्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि इतने दिनों तक इस खोखले विकास का गुब्बारा फूटा क्यों नहीं।

मन्दी की खबरों से बाजार में अफरा-तफरी न मचे और सरकार में जनता का विश्वास बना रहे, इसके लिए सरकार मन्दी की भयावह सच्चाई को छिपा रही है। वह इस बात को भी छिपा रही है कि भारत की अर्थव्यवस्था पूरी तरह तबाही के कगार पर पहुँच गयी है। इस काम में मुख्य धारा की मीडिया ने सरकार का पूरा साथ दिया। सरकार और मीडिया अपने मंसूबों में कामयाब है क्योंकि हर बार संकट को टालने के लिए जनता पर बोझ बढ़ दिया जा रहा है। तमाम आन्दोलनों के बावजूद जनता अपने दम पर प्रतिरोध खड़ा करने में अभी तक सफल नहीं हो पा रही है। बहुसंख्यक जनता अपनी खराब होती हालत को भाग्य का लेखा मानकर चुप रह जाती है। इसके चलते शासक वर्ग की निर्बाध लूट जारी है और वह संकट का बोझ जनता पर लादने में सफल है। जब तक जनता शासक वर्ग की लूट का जवाब नहीं देती, यथास्थिति बरकरार रहेगी।

हमारा सबसे पहला काम है, सच को जाने और सच यह है कि देश की अर्थव्यवस्था के विकास के जो आँकड़े पेश किये गये थे, वे भी झूठे साबित हुए। मोदी सरकार के पूर्व प्रमुख आर्थिक सलाहकार अरविन्द सुब्रमण्यन ने सरकार के दावे के विपरित बताया कि 2011-12 से 2016-17 के बीच अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर 4.5 प्रतिशत थी जबकि सरकारी दस्तावेज में इसे 7 प्रतिशत बताया गया था। यानी हर पहलू से देखने पर साफ हो जाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था मन्दी की गिरफ्त में फँस चुकी है और इस सच्चाई पर और पर्दा नहीं डाला जा सकता। अगर समय रहते इस समस्या का समाधान न किया गया तो यह देश के लिए बहुत विध्वंसक होगा।

क्या सट्टेबाजों और दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के शोषण और लूट को रोके बिना मन्दी का कोई स्थायी समाधान सम्भव है? क्या विदेशी निवेश, देश की सार्वजनिक सम्पदा और प्राकृतिक संसाधनों की निलामी से समाधान निकलेगा? कोई भी समझदार इनसान इन सवालों का जवाब 'नहीं' में ही देगा। इसलिए मन्दी से लड़ने के लिए सट्टेबाजों और दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को प्रोत्साहित करने वाली नवउदारवादी नीतियों पर तत्काल रोक लगाने की जरूरत है। इसके बाद नवउदारवादी मॉडल जो मुनाफा केन्द्रित पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का नया अवतार है, उसे बदलने की जरूरत है। इसके स्थान पर मानवकेन्द्रित समाज व्यवस्था कायम करनी होगी।

मौजूदा शासक वर्ग के खिलाफ धैर्यपूर्ण और दीर्घकालिक संघर्ष के बिना यह सम्भव नहीं है। इस संघर्ष में जनता का सहयोग जरूरी है। इसलिए प्रगतिशील शक्तियों को चाहिए कि वे इस संघर्ष में व्यापक मेहनतकश जनता को साथ लाने के लिए निरन्तर प्रयास करें। जनता के जुझारू और संगठित संघर्ष से ही हालात बदलेंगे।

जेट एयरवेज तबाह क्यों हुई?

17 अप्रैल 2019 को 26 साल पुरानी निजी विमानन कम्पनी जेट एयरवेज अस्थायी रूप से बन्द कर दी गयी, जिसके लगभग बीस हजार कर्मचारी बेरोजगार हो गये। इससे पहले ही आर्थिक रूप से जेट एयरवेज तबाही के कगार पर पहुँच गयी थी। यह सवाल लोगों के बीच उठना लाजमी था कि यात्रियों की संख्या लगातार बढ़ने के बावजूद कम्पनी को अचानक क्यों बन्द करना पड़ा? बताया जा रहा है कि कम्पनी पर बैंकों का 8500 करोड़ रुपये बकाया था, जिसमें बैंकों के पास कम्पनी की पचास फीसदी हिस्सेदारी भी है। कम्पनी ने बैंकों से और कर्ज की माँग की थी ताकि इसकी खस्ता हालत को ठीक किया जा सके, लेकिन बैंकों ने कर्ज देने से मना कर दिया। जेट एयरवेज में 24 फीसदी हिस्सेदारी रखने वाली एतियाद एयरवेज ने भी आर्थिक मदद देने से मना कर दिया। 25 मार्च 2019 को जेट एयरवेज के चेयरमैन नरेश गोयल ने अपने पद से इस्तीफा देकर अपना पल्ला झाड़ लिया। कम्पनी के कर्मचारियों ने उनके पासपोर्ट को जब्त करने की माँग की ताकि वह भी माल्या की तरह देश छोड़कर न भाग जाये।

जेट एयरवेज की तबाही से जुड़ी एक खास बात यह भी है कि उसके बन्द होने के पहले ही उसमें काम कर रहे कर्मचारियों के चार माह के वेतन को रोक दिया गया था। इसके चलते वे बहुत अधिक तनाव और निराशा के दौर से गुजर रहे थे, जो विमान उड़ाने के लिहाज से किसी भी पायलट के लिए आदर्श स्थिति नहीं थी। वहीं दूसरी तरफ जेट एयरक्राफ्ट मैंटेनेंस इंजीनियर्स वेलफेयर एसोसिएशन (जेएएमईडब्ल्यूए) ने डाइरेक्टोरेट जनरल ऑफ सिविल एविएशन (डीजीसीए) को एक पत्र के माध्यम से कहा, "हमारे लिए अपनी वित्तीय जरूरतों को पूरा करना मुश्किल हो गया है। इसके परिणामस्वरूप विमान इंजीनियरों की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा है और यह उनके काम को भी प्रभावित करता है। ऐसे में देश और विदेश में उड़ान भरने वाले जेट एयरवेज के विमानों की सुरक्षा जोखिम में है।"

वेतन न मिलने से जेट एयरवेज के कर्मचारियों की मानसिक हालत पर कितना असर पड़ा है, यह हम उनके द्वारा लिखे गये पत्रों और कही गयी बातों से समझ सकते हैं। इस दशा को नकारा नहीं जा सकता कि अगर कोई कम्पनी बन्द होती है तो उसका सबसे खराब असर उसमें काम कर रहे कर्मियों पर पड़ता है। इस मानसिक तनाव के चलते जेट एयरवेज के एक कर्मचारी ने चार मंजिला इमारत के ऊपर से कूदकर आत्महत्या कर ली थी। सरकार चाहती तो कम्पनी को अपने नियन्त्रण में लेकर उसे चला सकती थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। बीस हजार परिवारों को उनके हाल पर छोड़ दिया गया।

जेट एयरवेज के कर्मचारियों ने पीएमओ ऑफिस में प्रधानमंत्री को पत्र लिखा। उन्होंने पत्र के माध्यम से जेट एयरवेज को सुचारू रूप से चलाने और अपनी तंग हालत के बारे में लिखा। लेकिन सरकार की तरफ से कोई जवाब नहीं मिला। सरकार की तरफ से कोई कार्यवाही नहीं किये जाने पर कर्मियों ने वोट न डालने की बात कही या नोटा के चयन का फैसला किया। इतना सब होने के बाद भी सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा और तमाम पार्टियों ने भी इस बात को नजरअन्दाज किया।

अस्थायी तौर पर बन्द होते ही कम्पनी के सारे रूट दूसरी एयरलाइन्स को दे दिये गये। विमान का रंग बदलकर स्पाइसजेट को भेज दिया गया। स्पाइसजेट के मालिक अजय सिंह भाजपा से जुड़े हुए हैं। उन्होंने 2014 के चुनाव में भाजपा के लिए "अबकी बार मोदी सरकार" नारा दिया था। इससे पता चलता है कि जेट एयरवेज को तबाह करने की योजना पहले से ही चल रही थी। कम्पनी की अचानक से आर्थिक हालत खराब होना इस योजना को अमली जामा पहना देता है।

व्यवस्था के कलम घसीट बुद्धिजीवी कम्पनी की तबाही का कारण बताते हैं कि रुपये का डॉलर के मुकाबले कमजोर होना विमानन कम्पनियों के लिए खासा नुकसानदायक है। ऐसा इसलिए है कि विमान का परिचालन करने के लिए कम्पनियों को लगभग तीस प्रतिशत भुगतान डॉलर के रूप में करना पड़ता है, जिसमें विमान के लीज का किराया, विमान के रखरखाव, विदेशों में जाने वाले विमानों की पार्किंग का खर्च आदि शामिल है। ये सभी संकट को उभारने में तात्कालिक कारण हो सकते हैं। लेकिन असली कारण कुछ और ही है। भारत जैसे देश की बहुसंख्यक आबादी गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करती है। लिहाजा उच्च वर्ग के मुट्ठी भर लोग और मध्यम वर्ग का ऊपरी तबका ही हवाई यात्रा का सुख भोगता है। जबकि विमानन के क्षेत्र में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की ढेरों कम्पनियाँ हैं, इनके बीच तीखी होड़ चलती है। किराया सस्ता करना और तरह-तरह के ऑफर देकर ग्राहकों को लुभाना इनकी मजबूरी है। इसके साथ ही मालिक और इसके शेयर धारक भी इससे काफी कमाई करते हैं। पूरी तस्वीर को मिलाकर देखने से साफ समझ में आ जाता है कि तीखी होड़ की घुड़दौड़ में जो गिर जाएगा, बाकी उसे रौंदते हुए आगे बढ़ जायेंगे। जेट एयरवेज को इसी घुड़दौड़ ने अर्श से फर्श पर ला दिया।

-- विशाल जुनूनी

श्रद्धांजलि

रंगमच की आखिरी रोशनी

-- मंगलेश डबराल

एक बार कलकत्ता में एक नाटक देखते हुए मोहन राकेश और गिरीश कार्नाड खूब हँसते रहे। नाटक खत्म होने पर राकेश ने कार्नाड से कहा, "जानते हैं, हम क्यों इतना हंस रहे थे? इसलिए कि हमें पता चल गया था कि भारतीय नाटक का भविष्य हम पर ही निर्भर है।" यह बात सच थी। 'आषाढ़ का एक दिन', 'एवं इन्द्रजित' 'तुगलक', और 'शांतता, कोर्ट चालू आहे'-- पिछली सदी के सातवें दशक में इन चार नाटकों ने भारतीय रंगमच के चेहरे को बदलने का काम किया और उनके लेखक थे हिन्दी के मोहन राकेश, बांग्ला के बादल सरकार, कन्नड़ के गिरीश कार्नाड और मराठी के विजय तेंदुलकर। चारों नाटक अपने कथ्य, शिल्प और संरचना में एक दूसरे से बहुत अलग थे, लेकिन उनका मुख्य सरोकार लगभग एक समान था और वह था अपने समय की चीरफाड़ करने, उसकी व्याख्या के रूपकों की रचना। आगे चल कर चारों लेखकों के दूसरे नाटक भी लम्बे समय तक रंगकर्म को जीवंत, प्रासंगिक और सामयिक बनाये रखने में योगदान करते रहे। लगभग तीस वर्ष तक भारतीय भाषाओं का रंगमंच अगर एक शानदार जगह बनाये रहा तो इसकी एक बड़ी वजह यह थी की उस पर खेले गये नाटक उतने ही दमदार थे। गिरीश कार्नाड (19 मई 1938-10 जून 2019) पिछली सदी के उस रंगमच की आखिरी रोशनी थे।

अपने समय की बाहरी-भीतरी परतों को उधेड़ने के लिए गिरीश कार्नाड इतिहास और लोक-मिथकों की ओर गये। सिर्फ 26 वर्ष की उम्र में जब उन्होंने 'तुगलक' की रचना की थी तो वह नेहरू-युग के महास्वप्न से मोहभंग का दौर था। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में इब्राहीम अल्काजी ने पहली बार उसका मंचन किया (उसमें तुगलक की भूमिका मनोहर सिंह ने की थी) और चौदहवीं सदी के एक आदर्शवादी और स्वप्नजीवी सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक का चरित्र नेहरू युग का रूपक बन गया। इस नाटक का उद्देश्य सिर्फ यह बतलाना नहीं था कि तुगलक के उदात्त विचार किस तरह यथार्थ की जमीन पर नाकारा साबित हुए, बल्कि एक ऐतिहासिक प्रसंग के जरिये अपने वक्त की आलोचना पेश करना था। इस तरह 'तुगलक' एक राजनीतिक नाटक के तौर पर प्रतिष्ठित हुआ जिसके हजारों प्रदर्शन अब तक हो चुके होंगे। कार्नाड का दूसरा नाटक 'हयवदन' कथासरित्सागर के एक प्रसंग से प्रेरित था जिस पर जर्मन लेखक टॉमास मान की एक कहानी भी चर्चित हुई। वह बुद्धि और शारीरिक शक्ति के द्वंद्व और मनुष्य के अस्तित्व में पूर्णता को खोजने की व्यर्थता को रेखांकित करता था। रंगकर्मी बव कारंत के निर्देशन में कन्नड़ और हिन्दी में उसका मंचन ऐतिहासिक प्रस्तुतियों में गिना जाता है। वह नाटक एक अद्भुत दृश्य-कविता की तरह था। कार्नाड के कई दूसरे नाटक भी बहुत चर्चित रहे जिनमें 'ययाति', 'नागमंडल', 'रक्त-कल्याण' 'अंजु मल्लिगे', 'अग्नि और बरखा', 'टीपू सुलतान के ख्वाब' और 'बाली' बहुत सफल हुए। सन 2018 में उन्होंने विजय नगर में चालुक्य साम्राज्य के उदय और पतन पर लिखे गये नाटक 'राक्षस तांगड़ी' में प्रचलित इतिहास से अलग यह रेखांकित किया कि इस पतन की वजह दो धर्मों की लड़ाई नहीं, बल्कि राज-परिवार के भीतरी षड्यंत्र और यह सचाई थी कि राजा रामराय पूरी तरह चालुक्य नहीं वंश के, निचली जाति के थे।

नाटकों के अलावा फिल्म-निर्देशन, अभिनय और पटकथा लेखन से भी कार्नाड का गहरा लगाव था। उर अनंतमूर्ति के प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' में उन्होंने प्रमुख पात्र प्रानेशाचार्य की भूमिका निभाई। उनके द्वारा निर्देशित कई कन्नड़ फिल्मों 'काडु', 'वंशवृक्ष' और 'ओंदानोंदु कालदल्ली' के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ निर्देशन के राष्ट्रीय पुरस्कार और 'आनन्द भैरवी'' के लिए सर्वश्रेष्ठ अभिनय के पुरस्कार मिले। देश और प्रदेश के स्तर पर ऐसे लगभग चौबीस पुरस्कार उन्हें प्राप्त हुए। कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मराठी के अलावा बहुत सी हिन्दी फिल्मों में काम करने के कारण वे उत्तर भारतीय दर्शकों के बीच भी जाने-पहचाने थे। 'मंथन' और 'निशांत 'जैसी कलात्मक फिल्मों के बाद उन्होंने व्यावसायिक बम्बईया सिनेमा ('एक था टाइगर' और 'टाइगर जिन्दा है', आदि) में भी काम करने से कोई परहेज नहीं किया। और यह एक विडंबना ही है कि आम हिन्दीभाषी के बीच उनकी छवि पंद्रह महत्त्वपूर्ण नाटकों के लेखक की बजाय फिल्मी अभिनेता की ज्यादा रही।

गिरीश कार्नाड इतिहास की घटनाओं की अपने समय के लिए पुनर्व्याख्या करना जरूरी मानते थे, लेखन उनके लिए एक राजनीतिक कर्म था और वे उसे किताबों से बाहर भी ले जाते थे। वे जीवन भर धार्मिक कट्टरता, घृणा और साम्प्रदायिकता का प्रतिरोध करते रहे। बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद वे ऐसी ताकतों

के खिलाफ और भी मुखर हो गये थे। जब कट्टर हिन्दूवादियों ने कन्नड़ वचन साहित्य के विद्वान एमएम कलबुर्गी और पत्रकार गौरी लंकेश की हत्या की तो वे इसके विरोध में सडक पर उतरे। भारत सरकार अपने शहरी आलोचकों और मानव अधिकारों के लिए संघर्ष करने वालों को 'शहरी नक्सल' कह कर बदनाम करने लगी तो उन्होंने 'आय एम अर्बन नक्सल' और बढ़ती हुई हिंसा-असहिष्णुता के विरोध में 'नॉट इन माय नेम' की तख्ती लटका कर प्रदर्शनकारियों का साथ दिया। मुंबई में एक साहित्य उत्सव में जब वीएस नायपाल को 'लाइफटाइम अचीवमेंट अवार्ड' दिया गया तो गिरीश कार्नाड ने उनके सामने ही उन पर 'मुस्लिम-विरोधी' होने और 'भारत के बारे में कोई समझ न रखने वाला बाहरी व्यक्ति' कह कर तूफान खड़ा कर दिया। यह चर्चा भी रही कि कट्टर हिन्दूवादी सनातन संस्था की 'हिट लिस्ट' में पहला नंबर कलबुर्गी और गौरी लंकेश की बजाय कार्नाड का ही था।

एक इंटरव्यू में गिरीश कार्नाड ने कहा था कि वे एक आकस्मिक संतान हैं। उनके माता-पिता उनसे छुटकारा पाना चाहते थे, लेकिन जिस दिन उनकी माँ गर्भपात के लिए अस्पताल गयीं, उस दिन डॉक्टर नहीं आयीं। नतीजा यह रहा कि वे बच गये। 'जब माँ ने मुझे यह बताया तो मुझे बड़ा धक्का लगा। अरे, यह दुनिया मेरे बगैर ही चलती रहती? यह अवांछित बच्चा बहुत मेधावी निकला और गणित में प्रथम श्रेणी लाने के बाद रोड स्कॉलर बनकर ऑक्सफोर्ड गया और वहाँ से नाटककार बन कर लौटा। कार्नाड को साहित्य और सिनेमा के सभी प्रमुख सम्मान प्राप्त हुए जिनमें भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी, संगीत नाटक अकादेमी, कालिदास सम्मान, पद्मभूषण आदि शामिल हैं। उन्हें अन्तरराष्ट्रीय ख्याति मिली, लेकिन अन्याय के खिलाफ संघर्ष में वे लोगों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते रहे। जैसा बांग्ला लेखिका महाश्वेता देवी करती थीं, जैसा हमारी तीसरी दुनिया के बहुत से लेखक करते रहे हैं।

पुतलों का कारोबार

कुछ लोग पिछले कई सालों से
पुतले बनाने का कारोबार कर रहे हैं
पुतले आदमी की मूल शक्ल से
ज्यादा वास्तविक दिखते हैं
अन्त तक असली नकली का भ्रम
बना रहता है
कुछ रहस्यवादी बताते है कि पुतले
रात के अंधेरे में बातचीत करते हैं
उन्हें देख कर जासूसी फिल्मों की
याद आती है
दिन में वे सहज दिखते हैं
रात में हो जाते हैं डरावने
वे नींद में चलने लगते हैं
जिन लोगो का पुतला बनाया जाता है
उसकी पहले नाप जोख की जाती है
मसलन उसके पैर कितने लम्बे हैं
कितनी दूरी का है हाथ
उनका सीना कितने इंच का है
नितम्ब कितने गोल हैं
कमर की लचक कैसी है
झुकने में कोई दिक्कत तो नही
उसके देह की पैमाइश की जाती है
तैयार किया जाता है भूगोल
जो इतिहास में अमर होना चाहते हैं
वे खुशी खुशी पुतले बनवाने के लिए
तैयार हो जाते हैं
वे जानते हैं कि उनसे ज्यादा देखे जाएँगे उनके पुतले
मृत्यु के बाद अजायबघर में मौजूद रहेंगे
पुतलों के अस्तबल में दुनियाँ के मशहूर लोगों के पुतले हैं
उन्हें हजार लोग रोज देखते हैं
पुरुषों के मुकाबिले स्त्रियों के पुतले
ज्यादा उत्तेजक होते हैं
उनकी देह के संवेदनशील स्थलों को
आक्रामक बनाया जाता है
ताकि लोगो मे पैदा हो सके जुनून

मजदूर कोई प्रसिद्ध आदमी नहीं होता
इसलिये उसके पुतले नहीं बनाये जाते
हालाँकि वह पुतलों का असली सूत्रधार है
देखते-देखते पुतलों का संसार बस
जायेगा
पुतले नाचेंगे गायेंगे
हमारी तरह हरकत करेगे
उनके हाथ मे तलवार थमा दी जाय
तो वे लड़ने लग जायेंगे
इस तरह एक दिन पुतले हमे
अपदस्थ कर देंगे
हम उनके गुलाम हो जायेंगे।

-- स्वप्निल श्रीवास्तव

फैज : अँधेरे के विरुद्ध उजाले की कविता

-- विजय गुप्त

विद्रोह फैज का सहज स्वभाव है। उनकी जिन्दगी और शायरी इसका प्रमाण है। जब उन्होंने अंग्रेज लड़की एलिस से मुहब्बत और शादी की तो रूढ़िवादी विचारों के खिलाफ लम्बी लड़ाई लड़ी। शायरी में भी फैज ने बने बनाये नुक्तों को तोड़ा और नयी जमीन तैयार की। शायरी की रवायत से उन्होंने हुस्नो-इश्क लिया और उसे अपने रंजो-गम से मिलाकर वक्त के सफों पर अपने खून से जमाने का दर्द लिखा।

मताअ-ए-लौहो कलम छिन गयी तो क्या गम है
कि डूबो ली हैं खूने दिल में अँगुलियाँ मैंने

कविता के साथ फैज का रिश्ता खून का रिश्ता है। जैसे खून बेवजह नहीं बहाया जा सकता, उसी तरह कविता भी बेवजह नहीं हो सकती। अपने पहले कविता संग्रह 'नक्श-ए-फरियादी' में उन्होंने लिखा है, "शेर लिखना जुर्म न सही लेकिन बेवजह शेर लिखते रहना दानिशमन्दी भी नहीं।" कविता उनके लिए गहरे सामाजिक सरोकार की चीज है, जिन्दगी और जहान को बदल देने का जरिया है। फैज साहब ने जो भी लिखा दिल से लिखा। बीबीसी के एशियाई प्रोग्राम के लिए फैज ने एक इंटरव्यू दिया था। प्रोड्यूसर जनाब कृष्ण गोल्ड के एक सवाल के जवाब में उन्होंने नौजवान शायरों के लिए कहा था, "जो कुछ लिखो अपने दिल से लिखो, किसी के कहने की वजह से मत लिखो। दबाव में आकर मत लिखो। सवाब की खातिर मत लिखो। सत्ता की सियासत की खातिर मत लिखो। जो दिल से बात निकलती है वही लिखो। अगर दिल से बात नहीं निकलती तो मत लिखो।" फैज ने ताजिन्दगी अपने दिल की सुनी। हर दबाव और जोर-जबर के खिलाफ मुखालिफत की। डरे नहीं, झुके नहीं। मुश्किल से मुश्किल परिस्थितियों में भी अपने समाजवादी सिद्धान्तों से डिगे नहीं और जनता के पक्ष में पूरी दृढ़ता के साथ खड़े रहे। जनता की क्रान्तिकारी शक्तियों पर पूरा भरोसा है उन्हें। यह फैज ही लिख सकते हैं:

कटते भी चलो, बढ़ते भी चलो
बाजू भी बहुत हैं, सर भी बहुत
चलते भी चलो कि अब डेरे
मंजिल पर ही डाले जायेंगे।

हालाँकि जिस मंजिल और 'सुबहे-आजादी' की कामना फैज को है वह नहीं मिलती--

ये दाग-दाग उजाला ये शबगजीदा सहर
वो इन्तजार था जिसका ये वो सहर तो नहीं

बावजूद इसके वह नाउम्मीद नहीं होते। हर चोट उनकी सक्रियता बढ़ा देती है। जिन्दगी का हुस्न और मनुष्य की मुक्ति का स्वप्न बार-बार उन्हें अपनी ओर खींचता है और युद्धक्षेत्र में खड़ा कर देता है। इसलिए हम भारत में ही नहीं उन्हें पाकिस्तान और बेरूत में भी लड़ते हुए देखते हैं। पूरी जिन्दगी उनकी जद्दोजहद और लड़ाई में गुजरी। इस लड़ाई में उनका सबसे बड़ा हथियार उनकी कलम और उनका कलाम रहा।

वह कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ाते, बुद्धिजीवियों और पढ़े लिखे तबकों के बीच बहस-मुबाहिसों में हिस्सा लेते और अपना बहुत सारा वक्त किसानों और मजदूरों के बीच बिताते। ट्रेड यूनियन की गतिविधियों को अंजाम देते और पाठक मंच का भी संचालन करते। किताबों को वह पूरी शिद्दत के साथ जनता तक पहुँचाना चाहते थे। उनकी चाहत थी कि मेहनत करने वाले अपने हक को समझें, पढ़े-लिखें और अपने कलमकारों को जाने-बूझें। पाठक मंच को चलाने के पीछे उनका यही सबब था कि हंसिये-हथौड़े के साथ किताबें भी जनता के हाथ में हों। किसानों और मजदूरों के बीच काम करने के इन्हीं अनुभवों ने उन्हें योद्धा बनाया था, इन्कलाबी शायर बनाया था।

हम मेहनतकश जगवालों से जब अपना हिस्सा माँगेंगे
इक खेत नहीं, इक देश नहीं, हम सारी दुनिया माँगेंगे

फैज ने बहुत तकलीफें उठायीं। मुफलिसी और बेबसी के दिन देखे। दुखती और जलती हुई यादों से गुजरते हुए फैज लिखते हैं कि "जब हमारे वालिद फौत (मृत) हुए तो पता चला कि घर में खाने तक को कुछ नहीं है, कई साल तक दर-बदर फिरे और फाकामस्ती की, उसमें भी लुत्फ आया इसलिए कि उसकी वजह से तमाशा-ए-अहले करम देखने का बहुत मौका मिला।" मशहूर शायर अहमद फराज ने 'बयादे फैज' नज्म में क्या खूब लिखा है,

कलम-बदस्त हूँ, हैरान हूँ कि क्या लिक्खूँ,
मैं तेरी बात को दुनिया का तजकिरा लिक्खूँ

लिक्खूँ कि तूने मोहब्बत की रोशनी लिक्खी,
तेरे सुखन को सितारों का काफिला लिक्खूँ
जहाँ यजीद बहुत हों हुसैन अकेला हो,
तो क्यों न अपनी जमीं को भी कर्बला लिक्खूँ!

फैज तमाम जिन्दगी हुसैन की जैसे जालिम बादशाह हों यजीद की मुखालिफत करते रहे, लड़ते रहे। हजरत अली साहब के छोटे बेटे इमाम हुसैन का कत्ल करने वाला बेरहम और कातिल यजीद फिर से जी उठा है। इतिहास का यह प्रेत आज भी पूरी दुनिया में अलग-अलग रंग-रूप और लिबास में बेगुनाह जनता पर बेहिसाब जुल्म ढाये जा रहा है। हिन्दुस्तान में यजीद का एक रूप अंग्रेज भी थे। फैज ईमान और सच की जंग में अंग्रेजों के बरखिलाफ रहे। आजादी की लड़ाई में वह सच्चे मार्क्सवादी अदीब, जर्नलिस्ट, ट्रेड यूनियनिस्ट, पार्टी कार्यकर्ता और सोशलिस्ट क्रान्तिकारी की तरह जी जान से लगे रहे। उन्होंने अपनी कम्युनिस्ट पहचान कभी नहीं छुपाई। क्या हिन्दुस्तान, क्या पाकिस्तान, क्या बेरूत, फिलस्तीन हर जगह वह फासिज्म और फासिस्ट सरकारों का खुल कर विरोध करते रहे। उन्होंने दुनिया भर के लेखकों से यह आह्वान किया कि "आज लिखने वालों का काम यह है कि वो साम्राज्यवाद, नस्लपरस्ती और नव-उपनिवेशवादी निजाम की मुखालिफत करें; और मशरिक व मगरिब के अवाम से मुहब्बत करें। आजादी, जम्हूरियत और इनसानी हकूक के लिए जद्दोजहद करने वालों की पुरजोर हिमायत करें।" उन्होंने यह भी कहा कि लिखने वालों को, "अपने तजुर्बात और पहचान से बेवफाई नहीं करनी चाहिए और न स्वार्थपूर्ण रवैया अख्तियार करना चाहिए और न बाह्य दबाव कबूल करना चाहिए। लिखने वाला अपने मुल्क और अवाम का वफादार होता है। वह आवाम का दोस्त, उसका दानिश्वर और रहनुमा होता है। उसका काम है, अवाम को जहालत, तोहमत, रवायत और पक्षपात के अंधेरों से निकालना और इल्म-ओ-दानिश की रोशनी की तरफ ले जाना। और उसका काम है अवाम को जब्र से आजादी की तरफ और मायूसी से उम्मीद की तरफ ले जाना।" (ऐ अहले कलम तुम किसके साथ हो, फैज अहमद फैज, अनुवाद : प्रेमचन्द श्रीवास्तव 'मजहर', पाकिस्तान में उर्दू कलम, पहल 17-18, पृष्ठ 7 एवं 9)। फैज साहब के इस मानीखेज बयान की रोशनी में ही जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी कैम्पस में नौजवानों के आजादी के तराने को देखा जाना चाहिए। आखिर इक्कीसवीं सदी में भारत के नौजवान दक्षिणपंथी सरकार से क्या माँग रहे थे? यही ना, मनुवाद से आजादी, सरमायादारी से आजादी, हर जोर-जुल्म और जबर से आजादी और लोकतंत्र की बहाली। यही तो अल्लामा इकबाल भी चाहते थे,

सुल्तानिये-जम्हूर का आता है जमाना
जो नक्श-ए-कुहन तुमको नजर आये मिटा दो

फैज साहब भी तो यही चाहते थे--

ऐ जुल्म के मातो लब खोलो, चुप रहने वालो, चुप कब तक
कुछ हश्र तो उनसे उट्ठेगा, कुछ दूर तो नाले जाएँगे!

हश्र तो उट्ठा और नाले भी दूर तक गये। हमारे देश में बेरोजगारी, नौकरियों और रोजगारों की भारी कमी, किसानों और मजदूरों की बेहाली, किसानों की खुदकुशी, छोटे-मोटे काम करने वालों की भयानक बरबादी, निम्न मध्यम वर्ग की तबाही को देखकर फैज की ये पंक्तियाँ जैसे देश और समाज का आईना नजर आती हैं--

बने हैं अहले हवस मुद्दई भी, मुंसिफ भी
किसे वकील करें, किससे मुंसिफी चाहें

फैज अहमद फैज ने लोकतंत्र पर पड़ने वाले खतरों को भाँपते हुए लेखकों के लिए एक पैगाम तैयार किया था जिसमें उन्होंने जोर देकर कहा था कि "वह इस अहद में दुनिया भर के अवाम का वफादार है। उसका काम है कि वह अवाम के दुश्मनों और दोस्तों में फर्क करे और अवाम को उसकी पहचान कराये, उन्हें बताये कि कौन उन्हें आजादी दिलाने, उनकी जिन्दगी में हुस्न और पाकीजगी लाने, हर किस्म के शोषण को खत्म करने में लगे हुए हैं। और कौन उन्हें गुलाम बनाने, उन्हें लूटने, करप्ट करने और उनकी कमजोरी से फायदा उठाने में मसरूफ हैं और मक्र व फरेब और जुल्म और जब्र से अपने इक्तिदार की उम्र बढ़ाने में लगे हुए हैं।

पाकिस्तान में संजीदा लिखने वालों को बिना खौफ और खतर साफ सच्ची बातें करनी चाहिए और इजहारे राय की आजादी पर अमल करना चाहिए। उन्हें जब्र और जुल्म को बेनकाब करना चाहिए और जो नाइन्साफियाँ हो रही हैं उन्हें नंगा करना चाहिए। समाजी, आर्थिक और बौद्धिक मुनाफकत को बेनकाब करना चाहिए।" (उपर्युक्त, पृष्ठ 7)।

पाकिस्तान के हुक्मरानों को फैज का अन्दाजे बयाँ पसन्द नहीं आया। जनता के पक्ष में खुलकर अपनी आवाज बुलन्द करना और जनतंत्र के लिए कमर कस कर मैदान में उतर आना तो कतई पसन्द नहीं आया। पाकिस्तान में उन पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया। उन्हें प्रधानमंत्री लियाकत अली खाँ की हुकूमत को पलटने के आरोप में गिरफ्तार किया गया। पाकिस्तान की तानाशाह सरकार ने रावलपिंडी कांसपिरेसी केस के तहत उन्हें कैद की सजा सुनायी। चार साल से भी ज्यादा वक्त उन्होंने जेल में बिताया। जेल में ही उनकी कला परवान चढ़ी और उन्होंने कला की बुलंदियों को हासिल किया। ये बुलंदियाँ आँसू, यातना और खून से सुर्खरू हुई थीं। फैज और उनकी शरीके हयात एलिस के त्याग और दर्द को उन पत्रों में महसूस किया जा सकता है जो जेल जीवन के दरम्याँ एक-दूसरे को लिखे गये थे। ये पत्र 'सलीबें मेरे दरीचे की' (प्रकाशन वर्ष 1971) में संकलित हैं। सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक जनाब सिब्ते हसन साहब ने लिखा है कि "फैज अहमद

फैज ने भी अयूब खान के शासन में अपनी कैद के दौरान कुछ बहुत शक्तिशाली कविताएँ लिखीं। उनका विरोध का साहित्य बहुत परिष्कृत था और उसमें बेजोड़ आकर्षण और गरिमा थी। बस इतना ही कहना काफी है कि इकबाल के बाद और किसी ने हमारे लेखकों को इतना प्रभावित नहीं किया और जनता की राजनीतिक चेतना को इतनी बुलन्दी पर नहीं पहुँचाया जितना फैज अहमद फैज ने। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता अगर पाकिस्तान में सरकारी मीडिया ने उन पर पाबन्दी लगायी क्योंकि वे अपने लाखों देशवासियों और दुनिया भर के लोगों के दिलों में जिन्दा हैं।" (आधुनिक उर्दू साहित्य में विचारों की लड़ाई, सिब्ते हसन, अनुवाद : नीलाभ, कथ्यरूप पुस्तिका 1, पृष्ठ 25)।

गौरतलब है कि कैदे तन्हाई में भी फैज टूटे नहीं। उन्हें गद्दार और मुल्क का दुश्मन कहा गया। उनके परिवार का सोशल बॉयकॉट किया गया। बच्चों को अच्छे स्कूलों से निकाल दिया गया लेकिन फैज अपने निश्चय से पीछे नहीं हटे। बहुत सब्र और हिम्मत के साथ उन्होंने आतंक और जुल्म का सामना किया। यह कविता की ही ताकत थी जिसने फैज को बचाया और नायाब फैज बना दिया।

हम देखेंगे
लाजिम है के; हम देखेंगे
वोः दिन केः जिसका वादा है
जो लौहे-अजल में लिक्खा है
जब जुल्मो-सितम के कोहे-गराँ
रूई की तरह उड़ जायेंगे

(लाजिम = निश्चित, लौहे-अजल = पूर्व निर्धारित नियति, कोहे-गराँ = भारी पहाड़)

जिन्दगी की तरह फैज का साहित्यिक सफरनामा भी मुश्किलों से भरा रहा। उन्हें आसानी से न तो पारम्परिक कविता लिखने वालों ने स्वीकार किया और न ही प्रगतिशील कविता के हिमायतियों ने। पुरानी कविता की लीक से बँधे लोग तो इसलिए नाराज थे कि फैज रूमानी शायरी को उसके फ्रेम से बाहर ले जा रहे थे, उसे एक नया रंग-रूप दे रहे थे। उन्हें इस बात का गुस्सा था कि फैज मोहब्बत और इन्कलाब को एकमेक कर रहे हैं। वो शायरी को आरामगाहों और मेहफिलों से निकाल कर गली-कूचों, खेत-खलिहानों यहाँ तक कि जंग के मैदानों तक ले जा रहे हैं। ऐसे ही लोगों के लिए फैज ने लिखा--

जिस जा सर-धड़ की बाजी हो
वो इश्क की हो या जंग की हो
गर हिम्मत है तो बिस्मिल्लाह !

उनके साथ चलने वाले समानधर्मा कुछ लोग इसलिए नाराज थे कि फैज अपनी राजनीतिक कविताओं में सीधे दुश्मनों पर हल्ला नहीं बोलते बल्कि अपने संकेतों को कलात्मक आवरण देकर दुश्मन की पहचान को अस्पष्ट कर देते हैं। "फैज की मशहूर नज्म 'सुब्हे-आजादी' (अगस्त 1947) जिसका आगाज 'ये दाग-दाग उजाला ये शबगजीदा सहर' से और जो खत्म 'चले चलो कि वो मंजिल अभी नहीं आयी' पर होती है। जिसका शुमार फैज की ही नहीं उर्दू की उम्दा सियासी नज्मों में होना चाहिए। अली सरदार जाफरी ने इसे यह कहकर खारिज कर दिया कि 'यह रजअत परस्त (अतिगामी/प्रतिक्रियावादी) शायरी का नमूना है। इसमें बात साफ नहीं है कि यह शबगजीदा सहर (रात द्वारा डसी हुई सुबह) किसके लिए है। ये तसव्वुर मुस्लिम लीग का भी हो सकता है और जनसंघ का भी। यह मुब्हम (अस्पष्ट) अन्दाज तरक्कीपसन्दी नहीं।" (इन्कलाब का सूफी शायर, शीन काफ निजाम, जनसत्ता रविवारी, 23 मई 2010)।

अपने-परायों के विरोध के बावजूद फैज ने अपने कवि को जनता के सुख-दुख और संघर्षों से जोड़े रखा। उनकी कविता साधारण आदमी के भीषण संघर्ष और शौर्य की कविता है। उन्होंने बहुत से तराने लिखे हैं। ये तराने आज भी गाये जाते हैं और जब तक जुल्मो-सितम का राज रहेगा तब तक गाये जायेंगे।

पंजाब के किसानों के लिए पंजाबी में उन्होंने एक तराना लिखा है। फैज किसानों और मेहनतकश लोगों की ताकत को जानते हैं। वे लोग अपनी ताकत से अनजान हैं। अपने भीतर की आग से अपरिचित हैं। इसलिए फैज उनको याद दिलाते हैं कि तू तो जगत का अन्नदाता है, धरती तेरी बाँदी और तू जगत को पालनेवाला है, इस बात को समझ और उठ। ये जरनल, करनल, सूबेदार, डिप्टी, डीसी, थानेदार सब तेरा दिया खाते हैं। तू नहीं, ये तेरे चाकर हैं। यदि तू बीज नहीं बोये, फसल नहीं उगाये और अपनी आँखें फेर ले तो ये भूखे मर जायेंगे। सत्ता तुम्हारी है और तुम ही सत्ता के असली हकदार हो। अपने सारे झगड़े भूल जाओ और एक हो जाओ। हम एक परिवार के हैं। उठ जट्टा और अपनी ताकत को पहचान।

उठ उतांह नूँ जट्टा
मरदा क्यों जानै
भुलियाँ, तूं जग दा अन्नदाता
तेरी बाँदी धरती माता
तूं जग दा पालणहारा
ते मरदा क्यूँ जानै
उठ उतांह नूँ जट्टा
मरदा क्यूँ जानै

फैज मानवीयता की ताकत और कविता की अमिट पहचान हैं।

रिपोर्ताज

बाँध भँगे दाओ*

-- रांगेय राघव

(हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार रांगेय राघव 1943 में बंगाल के अकाल की रिपोर्टिंग और राहत कार्य के लिए अपने अन्य युवा साथियों के साथ वहाँ गये थे! प्रस्तुत है उस यात्रा के बारे में उनका उत्कृष्ठ रिपोर्ताज जो एक ऐतिहासिक दस्तावेज के समान है।)

रेल रुक गयी। हम लोग बेहद फुर्ती से सामान उतारने लगे। एक बक्स, एक बिस्तर, दरवाजों के बड़े-बड़े बक्स... सब कुल एक-डेढ़ मिनट में।

भुइयाँ लम्बी-लम्बी साँसें लेता हुआ मुस्कराता जाता था। वह अपनी असमी उच्चारण की अंग्रेजी में कहने लगा सब उतार लिया! सब! मगर गाड़ी तो अभी तक खड़ी है!

जसवन्त अभी तक अदद गिन रहा था। उसने एकाएक ही सर उठाकर कहा-- अरे हाँ, गाड़ी तो अभी तक खड़ी है।

हम चारों ने देखा, खिड़की पर खड़े वृद्ध महाशय बार-बार अपनी गलती के लिए क्षमा माँग रहे थे। उन्होंने कहा था, गाड़ी यहाँ केवल एक मिनट रुकेगी। सब हँस पड़े। गाड़ी चली गयी, ठीक दस मिनट रुककर। चला गया वह आफत का गुबार जब आदमी को एक फुट भर जगह के लिए अपनी सत्ता की गवाही पुकार-पुकारकर देनी पड़ती है, जहाँ सब परेशान, सब कठोर मुसाफिर, परवश, अपने-आपके गुलाम।

कलकत्ते की चने की दुकानों से लेकर छोटे पवित्र भोजनालय तक, जहाँ मैले कपड़े वाले बदबूदार निचुड़े हुए इनसान बैठते हैं, हमने अनेक स्थल देखे थे, किन्तु जो अब पेट की आग धधकने लगी थी उसने याद दिलाया, कल कुछ खा-पी नहीं पाये सिवाय एक प्याले चाय के, तो उसी का यह परिणाम था। मानो यदि मनुष्य खुद लड़कर खाना नहीं खाएगा तो और कोई यहाँ पूछने तक को नहीं।

हम अपने पश्चिमी प्रान्त की याद में थे। यहाँ स्टेशनों पर पूरी तो मिलती थी, मगर साथ में केवल मिठाई, जिनके भाव सुनकर एकाएक विचार बदल देना पड़ता था। चली गयी वह रेल जिसे एक दिन भारतियों ने देवता कहा था, जिसने भारत में एक नवीन जागृति फैलायी थी, और आज जो जीवन की विषमता का फुँकारता अजगर बनकर शून्य को डसती चली जाती थी।

वह भीड़, वह गर्मी, भिंचाव! क्षण-भर के लिए जैसे वह कुष्टिया (नदिया जिले का एक कस्बा) स्वर्ग था। कलकत्ते के विराट वैभव के बाद यह छोटा टाउन जैसे मशीनों के देश के बाद आदमी का निवास स्थान था। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य का दूसरा सबसे बड़ा नगर होकर भी जैसे सब कुछ ऊपर की तड़क-भड़क था और मैंने देखा, कलकत्ता वास्तव में बंगाल नहीं था।

रेल में से देखी थी वह भागती हुई हरियाली, वही झिलमिलाते ताल, किन्तु अब देखा कि यहाँ हँसने में भी उदासी की एक कराह थी, हिलते हुए पत्तों का-सा एक कम्पन था।

आकाश में सुहावने बादल छा रहे थे। घटाओं का कातिल सुरूर तालों की झिलमिलाती पुतलियों में अक्षय मरोर-सी भरकर बहती हवा में किलकारी बनकर गूँज उठता था। कितना-कितना विश्राम कितनी-कितनी शान्ति, जीवन का अपनापन उस नीरवता में बार-बार जैसे सुबक रहा हो, भीख माँग रहा हो, जहाँ प्यार, प्यार रहकर भी दुराशा था, अलगाव था, हाहाकार था...।

हम लोगों के चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। बच्चे शोर कर रहे थे। दवाओं का डिब्बा और बक्स खोलकर रख दिये गये। एक विद्यार्थी आकर अंग्रेजी में लिखे शब्दों को पढ़ने लगा। अनेकों ने उससे पूछा और हम लोगों के बारे में ज्यों ही सुना, भीड़ में से कुछ व्यक्ति निकल आये।

एक साँवला-सा पतला-दुबला युवक बोल उठा-- आप लोगों के लिए हम यहाँ आये हैं। स्वागत!

अभी वह बात समाप्त भी नहीं कर पाया था कि एक आदमी दौड़ता हुआ आया। एकदम बांग्ला में उसने कहा-- कब शुरू करेंगे यह लोग अपना काम?

जियाउद्दीन ने कहा-- कल।

आदमी करीब-करीब चिल्ला ही उठा-- तब तो कोई फिक्र नहीं। और वह अफसरों को कुछ गन्दी गालियाँ दे उठा।

हम लोग चलने लगे।

***बन्धन तोड़ दो**

युवक कह रहा था-- होस्टल है एक स्कूल का, उसमें आप लोग ठहर जाइए, पास ही है...।

सचमुच ही मैंने देखा, लोग इन डॉक्टर विद्यार्थियों को देखकर एकबारगी निश्चिंत-से हो गये थे। उनके चेहरों पर जैसे दुख की खुली किताब थी। जो भी इंसानियत का थोड़ा-बहुत माद्दा रखता है, वह आसानी से पढ़ सकता है उस सबको।

साँझ घिर चली थी। बादल झूम उठते थे, जैसे लुढ़कने के अतिरिक्त उनके पास और कोई काम ही न था। घास फरफरा रही थी। समस्त वातावरण में एक कल्लोल लहरा रहा था, जैसे वेदना से भरे श्वास वंशी में गूँज उठते हैं।

हम लोग होस्टल की ओर धीरे-धीरे चल रहे थे। एक व्यक्ति जसवन्त से कह रहा था-- एक समय था जब कुष्टिया कभी हाथ नहीं पसारता था। मगर आज तो वह बात नहीं है। कहने वाला चुप हो गया और मुझे लगा जैसे आते अन्धकार की ढाल पर वह तीव्र बाण टकराकर झनझनाते हुए टूट गये। एका नहीं बाबू, एका नहीं, एका नहीं है। एका नहीं है तभी तो आज कुष्टिया की यह हालत है। ऊँची-ऊँची लहरें जब उठती हैं तब किसकी खेया में पानी नहीं भर जाता? किन्तु क्या बिना पानी निकाले नाव जल में सुरक्षित चल सकती है?

यह प्रश्न आज उसकी सत्ता का प्रश्न है, उसके जीवन की माँग का प्रश्न है।

मोहिनी टेक्सटाइल मिल में एक मजदूर कहने लगा-- हम करीब तीन हजार मजदूर हैं। हमारी अपनी एक यूनियन है, जिसमें हम करीब हजार आदमी हैं।

वह तो बात ही और है-- एक और ने कहा-- सरकार ने कह दिया हम बीज नहीं देंगे, मगर किसानों के संयुक्त मोर्चे के सामने उसको देना पड़ा और बाबू, पूरे ढाई सौ मन में से जब और यूनियनों को अपने-अपने हिसाब से दस-दस मन मिले तब अकेली बाराखड़ा यूनियन को मिले पूरे 75 मन। सरकार आज भी कोई ठोस 'राशनिंग' नहीं लगाये है, मगर क्या हाथ पर हाथ धरे रहने से कुछ हो सकेगा? उसका प्रश्न स्वयं उत्तर था। रात आ गयी थी, दुकानों पर धुँधले चिराग जल रहे थे। बादलों के फट जाने से एक झिलमिलाता-सा प्रकाश काँप रहा था।

होस्टल के दरवाजे पर सब लोग लौट गये। छोटे-बड़े अनेक विद्यार्थियों ने आकर हमें घेर लिया। उनके अधरों पर एक तरल हँसी थी। पर आँखों में भय-उदासी की छाया भी एक अद्भुत वास्तविकता थी। दीपक की शिखा जल रही थी। किन्तु निर्धूम नहीं, निश्शंक नहीं। क्षण-भर पहले ही तो वह लौ तूफान में काँप उठी थी। बुझते-बुझते बची थी। मैंने सोचा और समझा कि यह बालक इसलिए नहीं मुस्करा रहे हैं कि उन्हें उस अकाल में भयानक पिशाच से लड़कर बचे रहने का गर्व था; बल्कि इसलिए कि उनके सामने आज ऐसे मनुष्य खड़े थे, जिन्होंने उनके मनुष्य बने रहने के अधिकार को स्वीकार किया था, उस समय जबकि उनके अपने उनके नहीं थे। जब वह घृणा और स्वार्थ के कारण एक-दूसरे पर विश्वास कर सकने तक की श्रद्धा को भूल चुके थे।

हम लोग हरी-भरी दूब पर बैठे गये। लड़कों ने हमें चारों ओर से घेर लिया। बात चल पड़ी।

हवा मतवाली चल रही थी। आकाश ऊना-ऊना हो उठता था। गोधूलि की तन्द्रा प्रतिध्वनि-सी पृथ्वी पर अलसा उठती थी।

एक आठ या नौ वर्ष का बालक एकाएक कह उठा-- चावल तो मिलता ही नहीं। अकाल में तो हमने बाजरा खाया था, बाजरा। और सब हँस पड़े। सचमुच यह हँसी नहीं थी। जब मनुष्य निराशाओं से घिरा अपने ऊपर रोने के स्थान पर मुस्करा उठता है, तब उसके हृदय का प्रत्येक स्वर गीत बनकर निकलता है। उसकी एक वही वेदना अन्धकार में क्षण-भर का जुगनू बनकर टिमटिमा उठती है।

साँवला युवक कहने लगा-- मार्च, 1942 में कुष्टिया में अन्न-संकट प्रारम्भ हुआ। अप्रैल में कीमत 12 से 20 हो गयी और जून में तो पूरे 40। तीन महीने तक यही हालत रही। बाजार में तो चिड़िया तक के लिए एक दाना चावल नहीं था। 90 फीसदी गाँव वाले और टाउन में आधे से भी ज्यादा लोग अरहर, मसूर और चने की दाल पर जिन्दा थे। लोग घरों से बाहर आते डरते थे कि एक नहीं, दो नहीं, सड़कों पर अनेक भूखे दम तोड़ते होंगे। और डरते थे घर जाते हुए, जहाँ बच्चे, अपने बच्चे भूखे बैठे होंगे। माँ बेटी को देखती थी, पति पत्नी को देखता था। पिता की आँखें डूबते हुए अरमानों-सी बच्चों से टकराकर तड़पकर भीग उठती थीं। किन्तु कोई राह न थी। घर खाली थे। बाजार खाली थे। चारों ओर प्राणों की ममता दोनों हाथ उठाकर हाहाकार कर रही थी। लोग घरों में मरते थे। बाजार में मरते थे। राह में मरते थे। जैसे जीवन का अंतिम ध्येय मुट्ठी-भर अन्न के लिए तड़प-तड़पकर मर जाना ही था। बंगाल का सामाजिक जीवन कच्चे कगार पर खड़ा होकर काँप रहा था और वही लोग जो अकाल के ग्रास बन रहे थे, मरने के बाद पथों पर भीषणता के पग-चिन्ह बने सभ्यता पर, मानवता पर भयानक अट्टहास-सा कर उठते थे।

युवक उत्तेजित था। वह कह रहा था-- हमें आज इस बात में लज्जा नहीं है कि हमने हिदुस्तान से भीख माँगी है। यह जीवन की भीख हमने अपने लिए नहीं माँगी। बंगाल का इसमें अपमान नहीं है। आज हिन्दुस्तानी और बंगाली का भेद नहीं किया जा सकता। आज एक ओर मनुष्य हैं, दूसरी ओर वे नर-पिशाच जो मनुष्य को तड़प-तड़पकर मरते हुए देखकर भी चुप रह जाते हैं और रुपये की खन-खन में अपनी सारी सभ्यता और मनुष्यता को डुबोकर अपनी राक्षसी आँख तरेरा करते हैं। हमारी कराह कोई पराजय नहीं हैं। दुनिया हमें मर जाने देना नहीं चाहती। तभी तो आये हैं आप लोग, कोई आगरे से, कोई असम से। जिस जनता ने आपको भेजा है वह

हमारी है, हम उनके हैं और आज जो यह कच्चे चने ढेर लगाये बैठे हैं, कल तड़प-तड़पकर इधर-उधर भागेंगे। हमने इतिहास पढ़ा है। हिन्दुस्तान बार-बार इसलिए गुलाम होता गया कि कोई किसी की मदद नहीं करता था, मगर आज तो वह बात नहीं। यह अकाल जो गुलामी है, जो एक भीषण आक्रमण है, उसे हमें आस्तीन के साँप की तरह कुचलकर खत्म कर देना होगा। आज यदि हमें लज्जा हो सकती है तो यही कि हमारी ही भूमि में ऐसे लोग हैं, जिन्होंने हमें इस दिशा पर मजबूर कर दिया है। किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या आपके यहाँ ऐसे नर-पिशाच नहीं हैं? बात इतनी ही है कि संसार में दो ही लोग हैं। एक हम और एक वह और दोनों में कभी सामंजस्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह रुपये से नापना चाहते हैं और कौन कहता है कि हमें उससे बगावत करने का अधिकार नहीं है।

युवक लम्बी साँसें लेने लगा। एक लड़का जो मुसलमान था, कहने लगा-- ठीक कहा है, दादा ने बिलकुल ठीक कहा है...आपको मालूम नहीं, मगर हमने अपनी आँखों से देखा है।

पार साल की बात है-- मई का महीना था।

लोग महाजनों के पास बाजार जाते थे और वे कहते थे-- चावल? कहाँ हैं चावल? कुछ छोड़ती है यह फौज? हम तो कह-कह के मर गये मगर सरकार ने ले-ले जाकर सब डाल ही दिया न उस अनन्त भट्ठी में? और...बाबू, तुम समझते हो कि अगर होता तो मैं तुम्हें नहीं देता? किसके लिए दुकान खोली है, आखिर कोई बाँध के तो ले नहीं जाऊँगा मैं सब?

और जब बहुत खुशामत होती तो महाजन कहता-- क्या करूँ, तुम्हारा तो दुख देखा नहीं जाता अब। मगर लाचार हूँ। कितनी बुरी चीज है यह मजबूरी भी। खैर भाई, व्यापार करने को तो मेरे पास कुछ नहीं। मेरे पास अपने बाल-बच्चों का पेट पालने को आधा मन चावल जरूर ज्यादा है। तुम्हें दे दूँगा। आखिर पुरखों की लाज निभानी ही होगी। मैं तो ऊपर वाले का भरोसा किये हूँ। वह उबारे तो मर्जी उसकी। तुम रात में आना। मगर शर्त है, पता न चले किसी को और देखो, दाम की क्या बात है? जो दाम है उससे एक पैसा कम ही दे देना...।

और इसी तरह बात खुलने लगी। पचासों आदमियों ने जब एक ही बात सुनी तो उन लोगों के कान खड़े हुए।

एक दिन, मई की अँधेरी रात, बीस कदम पर कोई कुछ करे, दिखना असम्भव था। हवा तेजी से चल रही थी। और हमारी अन्न कमेटी के वालंटियर्स ने एक छिपा हुआ गोदाम ढूँढ निकाला। वह महाजन हिन्दू था, पूरे कुष्टिया का एक बहुत ही सम्मानित व्यक्ति। चावल, गेहूँ, दाल, उसमें करीब ढाई हजार मन सामान था।

दरोगा मुसलमान था। उसने आते ही परिस्थिति को भाँप लिया। जानते हैं, उसने क्या कहा? कि तुमने बिना इजाजत किसी दूसरे के घर में घुसने की जुर्रत की तो कैसे?...मैं तुम लोगों का चालान करूँगा।

विक्षोभ से भर गया था हमारा मन। 10-15,000 महीना कम नहीं होता बाबू, रिश्वत का। और हड्डी डालकर कुत्ते का मुँह बन्द करके ही तो चोरी की जा सकती है और वह भी तब जब कि घर के पहरेदार सब गाफिल हों।

मैंने देखा, लड़के के होंठ फड़क रहे थे। वह कहता गया--

उस दिन हमने देखा कि हिन्दू-मुसलमान होकर भी हमारा रक्त चूसने के लिए एक हो सकते थे तो क्या हम अपने रक्त को बचाने के लिए अपने जीवन की रक्षा के लिए एक नहीं हो सकते थे? उस दिन हिन्दू हिन्दू नहीं था, न मुसलमान मुसलमान। उस दिन दो वर्ग थे, लुटेरे और भूखे।

वालंटियर्स ने निकलने से इनकार कर दिया। हजारों भूखे इकट्ठे हो गये थे। उनकी जलती आँखों में से जैसे बंगाल की सदियों की दारुण यातना अँगारों की तरह दहक रही थी।

भीड़ ने चिल्लाकर चावल की माँग की। "हम लेंगे चावल, देना होगा हमें चावल। तुम कब्जा करो वर्ना हम करेंगे। अपनी भूख का अधिकार है हमें।"

लगता था, दंगा हो जाएगा। पुलिस तो यह चाहती ही थी। मगर इसी समय दो युवक सामने आये। एक हिन्दू-एक मुसलमान। उन्होंने भीड़ को शान्त किया और एसडीओ के यहाँ गये। और वहाँ से हुक्म लाये।

टेक दिये घुटने नौकरशाही ने, झुका दिया सर जन-बल के आगे, कौन है जो हमें झुका सकेगा? हम बंगाली कभी भी साम्राज्यवाद की तड़क-भड़क से रौब में नहीं आये। हमें गर्व है बाबू, हम भूखे रहकर भी अभी मरे नहीं हैं।

अब हम किसी की आज्ञा नहीं चाहते। तब साँवले युवक ने कहा-- ओह! कैसे हैं हम लोग? आप खाना नहीं खायेंगे क्या? नहाने-धोने की चिन्ता ही नहीं। उठिये न जो कुछ भी हो।

शीतलक्षा नदी में एक किनारे नाव बँधी थी। हम वहीं नहाते। जसवन्त दूर आकाश में एक हल्की लाली देखकर कह रहा था-- वहीं है वह जो कभी नहीं मिटेगी, बंगाल के गगन से जब तक अन्धकार को ध्वस्त करके सूरज नहीं निकलेगा। वहीं है इनके रक्त का रंग, इनका प्राण...।

चाँदनी नदी पर हिलोर उठ रही थी। झाड़ी और नरकुल में सनसनाती हवा एक संगीत-सा भर-भर देती थी, जो लहरों पर नाच उठता था। कुछ ही मील दूर पर पद्मा पर बजरे में बैठकर एक दिन महाकवि ने अपने वह गीत रचे थे, जिनकी गूँज से मानव की आत्मा में नवीन साहस की, धमनी-धमनी में स्फूर्ति भरने वाली सृष्टि हुई थी।

घर, वह शान्त घर चाँदनी में सो रहे थे लेकिन मानव को इतना

अवकाश, इतना समय ही नहीं था कि वह भी पानी पर बहती चाँदी-सोने की झिलमिल चादरों से आह्लादित होता। स्त्री यहाँ वैश्या हुई थीं, पुरुष भिखारी, बच्चे घरघराते पशु। समस्त वातावरण से मानो कराहें फूट पड़ती थीं। आज बंगाल की धरती पर एक नयी बात थी। कहते हैं एक दिन दो हजार बरस पहले एक नक्षत्र को देखकर तीन महान देशों से तीन महाविद्वान पैदल चलकर एक चरवाहे के बच्चे के पालने के पास आये थे और वह बच्चा एक दिन बड़ा होकर अपने लिए नहीं, मरते दम तक मानव को क्षमा करता हुआ, अपनी सूली आप उठाकर ले गया था। सोच रहा हूँ कि यह जो डॉक्टर विद्यार्थी हैं, क्या वैसे ही नहीं हैं? यह जो बंग जो आज धराशायी है, क्या यही एक दिन उतना समर्थ नहीं हो जाएगा? नहीं, इस अत्याचार से सर नहीं झुकेंगे, इस दारुण और असह्य यन्त्रणा से भी वह पराजित नहीं होंगे।

लतीफ गा रहा था अपने-आप--

बाँध भँगे दाओ

बाँध भँगे दाओ

बाँध भँगे दाओ

बाँऽऽध!

और जब हिन्दू-मुस्लिम छात्रों ने मिलकर एक स्वर होकर गाया, मुझे लगा जैसे दिशाएँ रुक गयीं, पवन स्तब्ध हो गयी, नदी चुप हो गयी और जो दिगन्त से रवीन्द्र, मोहसिन और राममोहन भयंकर हाहाकार कर रहे थे, वह ठंडी साँस लेने लगे। वह स्वर! जीवन के चीत्कारों पर वह एक वज्र प्रहार था।

लड़के गाते रहे, एक स्वर, एक लय, एक प्राण--

बाँध भँगे दाओ

और मैंने कितना न चाहा कि यह स्वर बंगाल ही नहीं, हिन्दुस्तान ही नहीं, संसार का प्रत्येक दुखी आदमी, दुखी औरत सुने, और सुने...।

लड़के गा रहे थे।

पर्यावरण

जलवायु संकट के लिए अमीर दोषी क्यों?

-- जेम्स प्लेसटेड

(स्वीडेन की ग्रेटा थनबर्ग अभी 16 साल की स्कूली छात्रा हैं। वह पर्यावरण की एक जुझारू कार्यकर्ता हैं। उन्होंने स्वीडेन की संसद के सामने पर्यावरण के लिए हड़ताल करके आन्दोलन की शुरुआत की थी। यह आन्दोलन अब तक 125 देशों में फैल चुका है। 24 मई 2019 की हड़ताल में 1600 शहरों से स्कूली छात्रों ने भाग लिया। 27 सितम्बर को अगली विश्वव्यापी हड़ताल की घोषणा हो चुकी है। सभी जगह के स्कूल के प्रतिनिधि तैयारी में जुट गये हैं। स्कूली आन्दोलनकारियों का कहना है कि "कोई भी इतना छोटा नहीं होता कि बदलाव न ला सके" और उससे पहले कि "धरती बुरी तरह से तपने लगे पर्यावरण के लिए हड़ताल करो।")

ग्रेटा थनबर्ग, 16 साल की स्वीडिश जलवायु कार्यकर्ता हैं उन्होंने वैश्विक "जलवायु संकट की स्कूल हड़ताल" आन्दोलन को प्रेरित किया था, उन्हें जनवरी की वार्षिक "वर्ल्ड इकनोमिक फोरम" स्विट्जरलैंड के दावोस में पूँजीपतियों और मशहूर हस्तियों की बैठक में बोलने के लिए आमंत्रित किया गया। उन्होंने बेलागाम शब्दों में कहा-

"कुछ लोग कहते हैं कि जलवायु संकट कुछ ऐसी चीज है जिसको हमने (सबने) पैदा किया है। लेकिन यह सच नहीं है क्योंकि यदि सभी दोषी हैं तब कोई भी दोषी नहीं है। और कोई न कोई तो दोषी है।

कुछ लोग, कुछ कम्पनियाँ और विशेष रूप से कुछ निर्णयकर्ता भली-भाँति यह बात जानते हैं कि अथाह पैसा बनाने के इस काम को जारी रखने के लिए वह किस अमूल्य धरोहर को नष्ट कर रहे हैं। और मेरा विचार है कि आज यहाँ आप में से अधिकतर लोग उसी समूह से हैं।"

थनबर्ग सही हैं। वर्ल्ड इकनोमिक फोरम में आमंत्रित विश्व के "एक प्रतिशत" अति धनी व्यक्तियों और उनके राजनीतिक नौकरशाह पर्यावरण संकट के लिए दो तरह से जिम्मेदार हैं।

पहला, उनकी विलासितापूर्ण जीवन-शैली से होने वाला उत्सर्जन बहुत विशाल है। उनके घरों में इस्तेमाल होने वाली निर्माण-सामग्री और उसमें लगने वाली ऊर्जा, उनके निजी जेटों की अनियमित उड़ानें और उनके इस्तेमाल की सभी विलासितापूर्ण वस्तुओं के उत्पादन से होने वाले प्रदूषण के बारे में सोचिये। चैरिटी ऑक्सफेम की 2015 की रिपोर्ट के अनुसार, औसतन सबसे धनी 1 प्रतिशत लोगों में से कोई एक व्यक्ति वैश्विक स्तर पर सबसे गरीब 10 प्रतिशत लोगों में से किसी एक व्यक्ति की तुलना में 175 गुना ज्यादा कार्बन उत्सर्जन करता है। विश्व की आधी सबसे गरीब आबादी, लगभग 4 अरब लोग केवल 10 प्रतिशत उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार हैं।

ये आँकड़े उस व्यक्ति को याद दिलाये जाने चाहिए जो यह तर्क करे कि "अत्यधिक आबादी" एक समस्या है। यह तर्क केवल गलत ही नहीं है-- यह तर्क बढ़ते हुए उत्सर्जन के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार लोगों के हाथों का खिलौना भी है। यह बड़े

कारोबारियों और अमीरों की कारगुजारियों से ध्यान हटाकर उन लोगों पर केन्द्रित कर देता है जो खुद प्रदूषण भी कम करते हैं और जिनमें इस मामले में कुछ कर पाने की ताकत भी कम है।

दूसरा, शासक वर्ग अपनी आर्थिक और राजनीतिक निर्णयकर्ता की भूमिका के चलते जलवायु संकट के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार है।

विश्व के अमीर और शक्तिशाली लोग जो हमारे समाज को पर्यावरण विनाश के ढर्रे पर ले जा रहे हैं, दिन-रात ऐसे फैसले ले रहे हैं। ये वही लोग हैं जो कोयले की नयी खदानों में और पहाड़ों में विस्फोट करके तेल निकालने वाली परियोजनाओं में निवेश कर रहे हैं, वे हमारे जंगलों का सफाया कर रहे हैं, उन रसायनों का इस्तेमाल कर रहे हैं जो हमारी भूमि, हवा और पानी को प्रदूषित कर दे, हमारे महासागरों से अधिक से अधिक मछलियाँ पकड़ के मुनाफा कमा रहे हैं, इत्यादि। और हमारे नेता यह सब करने में उनका साथ दे रहे हैं।

आम तौर पर हर जगह पूँजीपतियों की तरफ से यही दलील दी जाती है कि वे बाजार के विनम्र सेवक और उपभोक्ताओं की माँगों को पूरा करने वाले हैं। उसी प्रकार, नेता यह तर्क देते हैं कि उनके द्वारा जलवायु परिवर्तन और अन्य पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दों पर ध्यान न दे पाने की असफलता, मतदाताओं की तरफ से समर्थन की कमी को दर्शाता है। दोनों ही दावे गलत हैं।

नेताओं के मामले में यह बिल्कुल साफ है। जैसे-- ऑस्ट्रेलियाई लोगों की बड़ी आबादी एक दशक से भी अधिक समय से जलवायु परिवर्तन पर कार्रवाई चाहती है। 2018 के लोई इंस्टिट्यूट की मतगणना ने यह बताया कि 59 प्रतिशत लोग इस कथन से सहमत थे कि "जलवायु परिवर्तन एक गम्भीर और अविलम्ब हल करने वाली समस्या है। हमें इसके लिए कदम उठाना शुरू करना चाहिए चाहे इसके लिए कितनी ही महत्त्वपूर्ण कीमत क्यों न लगे।"

और उससे भी बड़ी संख्या, 84 प्रतिशत लोग इस कथन से सहमत हैं कि सरकार को फिर से इस्तेमाल किये जा सकने वाले ऊर्जा स्रोतों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, इसका यहाँ तक मतलब है कि हमें व्यवस्था को और विश्वसनीय बनाने के लिए आधारभूत ढाँचें में और अधिक निवेश करने की जरूरत है।

सारे प्रमाण इसी ओर संकेत करते हैं कि यदि नेता ऑस्ट्रेलिया के पुराने कोयला आधारित उद्योगों के और आगे फैलाव के खिलाफ मजबूती से खड़े होने और तेजी से नवीकरण ऊर्जा स्रोतों की ओर संक्रमण करने के लिए तैयार होते, तो यह तरीका बहुत प्रचलित होता। इसके बावजूद तथ्य यह हैं कि हम खनन और अन्य बड़े व्यावसायिक हितों के प्रचार की आड़ लेते हैं जो यह दावा करते हैं कि पर्यावरण स्थिरता की दिशा में पहलकदमी अर्थव्यवस्था के लिए एक खतरा है।

पर्यावरण के मामले में, जनता बदलाव चाहती है, नेता ही हैं जो अपने पैर पीछे खींच रहे हैं।

चीजों के व्यावसायिक पहलुओं को थोड़ा और खोलने की जरूरत है। यदि एक समय किसी बिन्दु पर समाज का चित्र लिया जाये तो सारी चीजें माँग और आपूर्ति के नियमानुसार संचालित मालूम होती हैं। जैसे, लोग पेट्रोल से चलने वाली गाड़ियाँ खरीद रहे हैं जिसके लिए ईंधन की आपूर्ति आवश्यक है।

इस तरह से देखने पर ऐसा लगता है कि कारों और अन्य उत्पादों के खरीदार भी पर्यावरण विनाश के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार हैं। यही वजह है कि पर्यावरण आन्दोलन में सक्रिय बहुत से लोगों को विश्वास दिला दिया गया है कि व्यक्तिगत उपभोग में बदलाव पर्यावरण के विनाश को रोकने की कुंजी है।

जबकि यह नजरिया उन ऐतिहासिक और बुनियादी कारकों को नजरन्दाज कर देता है जो "उपभोक्ता की पसन्द" को बहुत ही संकीर्ण दायरे में समेट देता है। कारों की निरन्तर बढ़ती माँगों को ले लीजिए-- लगभग पिछली एक सदी से हमारे समाज को कार उद्योग के अनुसार ढाला गया है। सार्वजनिक परिवहन रुक गये और कुछ शहरों में तो पूरी तरह से बन्द ही हो गये। (कभी-कभी यह प्रक्रिया कार उद्योग द्वारा प्रत्यक्ष रूप से संचालित की गयी जो ट्रेनों और ट्रामों के फैले जाल-तंत्र को खरीदते हैं और पटरियों को तुड़वा देते हैं)।

जैसे-जैसे कारों का मालिकाना बढ़ता है, शहर फैलने लगते हैं। आज लोगों की एक बड़ी संख्या के लिए कारों का इस्तेमाल इच्छा नहीं बल्कि पूरी तरह से एक मजबूरी बन गयी है। वे जिन्होनें अपना सारा जीवन बड़े शहरों के भीतर बसे सम्पन्न उपनगरों में बिताया हो, केवल वही इससे अलग सोच सकते हैं।

कारों पर हमारी निर्भरता को कम करने के लिए सार्वजनिक परिवहनों के आधारभूत ढाँचें में भारी निवेश की जरूरत होगी, ऐसे स्तर का निवेश जिसके समर्थन में किसी भी पूँजीवादी सरकार ने रुचि नहीं ली है। इस सन्दर्भ में, आम लोगों को अपनी कारों का इस्तेमाल करने के लिए दोषी ठहराना पूरी तरह से व्यर्थ है। अधिक जनसंख्या के बारे में तर्क देते हुए, जो लोग सही मायने में जलवायु परिवर्तन के लिए दोषी हैं, उनकी तरफ से ध्यान हटा दिया जाता है।

बहुत से अन्य उदाहरणों का जिक्र किया जा सकता है। हम ऐसी व्यवस्था में नहीं रहते जो लोगों को वास्तविक "मुक्त इच्छा" की अनुमति देता हो कि वे किस चीज का उपभोग करें, कहाँ रहें, कहाँ काम करें, इत्यादि।

जलवायु संस्थान सीडीपी (पूर्व में कार्बन डिसक्लोजर प्रोजेक्ट)

के शोधकर्ताओं की 2017 की रिपोर्ट में बताया गया है कि 1988 के बाद से 70 प्रतिशत से अधिक वैश्विक उत्सर्जन केवल 100 कम्पनियों ने किया है। ये कम्पनियाँ उपभोक्ताओं की माँगों को पूरा नहीं कर रही हैं। ये वैश्विक स्तर की वे विशाल कम्पनियाँ हैं जिन्होनें अर्थव्यवस्था को अपने अनुसार ढाल लिया है और अर्थव्यवस्था में अपने स्वार्थों को अपनी "मनमर्जी" से पूरा कर रही हैं।

यह जरूरी नहीं है कि हम पर्यावरण के नारकीय विनाश जिसका जिम्मेदार आज का वैश्विक पूँजीवाद है, पर ही बात खत्म कर दें। उदाहरण के लिए, हमें 19वीं शताब्दी के शुरु से ही सौर ऊर्जा का स्रोत ज्ञात है। फिर भी हर मौके पर पूँजीपति वर्ग ने इनसानियत के हित के ऊपर अपने तात्कालिक मुनाफे को ही प्राथमिकता दी है।

कोयले को जलाकर ऊर्जा पैदा करना, सौर ऊर्जा पैदा करने वाली तकनीक में निवेश करने की तुलना में सस्ता और तीव्रगामी था। लाखों की तादाद में कारों को बेचकर उनकी जरूरतों के हिसाब से शहरों का निर्माण करना सार्वजनिक परिवहन प्रणाली को उन्नत करने की तुलना में अधिक मुनाफा देने वाला था।

वह पूँजीपति जो आज की अर्थव्यवस्था के प्रभावशाली पदों पर आसीन हैं, इन ऐतिहासिक अपराधों से मुक्त नहीं किये जा सकते। कम्पनियों के शक्तिशाली अधिकारी और निवेशक जो व्यवस्था को चला रहे हैं, वे बहुधा शुरुआती समय के पुराने "औद्योगिक नेताओं" के प्रत्यक्ष वंशज हैं। और यदि वह वंशज नहीं भी हैं तो भी वे स्पष्ट रूप से "ग्रह से पहले मुनाफा" की विचारधारा के तहत अपना हित साधते हैं जैसी परम्परा उनके पूर्वगामी स्थापित करके गये हैं।

इन सबके बावजूद, आप यह पूछ सकते हैं कि जब तेजी से हो रहे जलवायु परिवर्तन के सम्भावित विध्वंसकारी परिणामों पर वैज्ञानिकों द्वारा चेतावनी दी जा चुकी है, तब भी अमीर अपना "कारोबार उसी तरह" जारी रखने के लिए इतना दृढ़ क्यों दिखायी दे रहे हैं? सच है, वे इस व्यवस्था में अपने हित के लिए खूब काम कर रहे हैं लेकिन इस तरह से लगातार काम करना कि जो आपके सहवासियों के लिए नुकसानदायक है क्या पाठ्यपुस्तकीय मनोरोग (इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि एक व्यक्ति लाखों को हानि पहुँचाने वाला है) नहीं है? और ऐसा आप इसलिए कर रहे हैं क्योंकि यह आपके संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करता है।

पहला जवाब तो यह है कि पूरी तरह से जलवायु संकट के लिए जिम्मेदार होने के बावजूद वे उन लोगों में से नहीं होंगे जो सबसे अधिक सर्वनाशी परिदृश्यों और परिणामों को झेलेंगे। जैसा कि हमारे समाज में बहुत से मामलों में होता है, पर्यावरण के विनाश के मामले में भी अमीर सचमुच ही इससे बचने का रास्ता निकाल सकता है।

समुद्र का जल स्तर बढ़ेगा तो वे किसी और जगह अपने दूसरें मकानों में जा सकते हैं। क्या सूखा पड़ने पर उन्हें पानी की आपूर्ति का डर है? वे ट्रकों में लाये गये पानी खरीदने के लिए पैसे दे सकते हैं। क्या उनके घरों को आग का डर है? वे आग बुझाने के लिए अपने निजी फायरमैन किराये पर रख सकते हैं। क्या खाने के दामों का बढ़ना उनके लिए मुसीबत है? बमुश्किल ही उनके लिए ऐसा कुछ हो सकता है-- उनमें से बहुत से अपनी कृषि-सम्बन्धी पूँजी निवेश की मूल्य वृद्धि के चलते मुनाफे में ही हैं।

यदि हम अपने मौजूदा हालात से शुरू करें तो हम एक ऐसी स्थिति में पहुचेंगे, जहाँ दुनिया दो ऐसे हिस्सों में बँटी होगी जहाँ एक तरफ तो अमीरों की एक छोटी, सेना द्वारा सुरक्षित और जलवायुरोधी बस्ती (एन्क्लेव) होगी और दूसरी तरफ गरीबों के अभाव, रोगग्रस्त और आपदाओं से प्रभावित दूरस्थ इलाके (हिन्टरलैण्ड), जहाँ दुनिया की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा जिन्दगी जीने के लिए रोज संघर्ष करता होगा। लेकिन यह देखते हुए कि वैश्विक शासक वर्ग कमोबेश इसी तरह पहले से ही जी रहा है, उन्हें इस परिदृश्य के बारे में अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है।

जलवायु परिवर्तन के खतरे पर, अमरीका और ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों की प्रतिक्रिया से यही जाहिर होता है। उत्सर्जन पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए हमारी सरकारें बहुत थोड़ा काम कर रही हैं। इसी दौरान, वे बहुत विशाल धनराशि सेना को खड़ा करने में लगा रही हैं और गर्म होती दुनिया से जुडी भू-राजनीतिक अस्थिरता के बढ़ते स्तर की पहचान के लिए भी वे कुछ धनराशि खर्च कर रही हैं।

सजग वैज्ञानिकों की चेतावनियों के प्रति धनी लोगों के इतना बेपरवाह होने और पर्यावरण की तबाही से किनारा करने का दूसरा कारण यह है कि वह इसे खुद पूँजीवादी व्यवस्था और धन, सत्ता और विशेषाधिकारों के लिए एक खतरे के रूप में देखते हैं जिसका वे इस व्यवस्था के चलते मजा लूटते हैं।

वैश्विक अर्थव्यवस्था में जरूरी बदलाव के लिए हमें पूँजीपतियों के स्वार्थों का सामना करना होगा जिन्होनें जीवाश्म-ईंधन आधारित अर्थव्यवस्था के दम पर अपनी पूरी सम्पत्ति खड़ी की है। कम से कम, हमें बड़े स्तर पर सरकारी हस्तक्षेप की जरूरत होगी। जैसे- नयी कोयला खदानों के निर्माण के विरोध में कानून बनाना और नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों की दिशा में तेजी से संक्रमण के लिए धनी लोगों पर कर लगाकर कोष इकठ्ठा करना।

उनकी तरफ से चिन्ता यह है कि यह एक अस्थिर झुकाव हो सकता है। एक बार जब लोग यह (पागलपनभरा!) विचार ग्रहण कर लेंगे कि बेलगाम बाजार पूँजीवादी समाज को व्यवस्थित करने का सही रास्ता नहीं है और बड़े स्तर की सहभागिता से ही

जलवायु परिवर्तन से निपटा जा सकता है, तो कौन जानता है कि यह उन्हें किस ओर ले जाये? लोग उसी नमूने को बाकी चीजों जैसे- बेहतर सार्वजनिक परिवहन, स्वास्थ्य देखभाल, घर इत्यादि पर भी लागू करने की इच्छा कर सकते हैं।

नवउदारवाद की दशकों लम्बी परियोजना जो "उपभोक्ता के भुगतान" पर आधारित थी और जिसने हमारे जीवन के हर पहलू में प्रतिस्पर्धात्मक व्यक्तिवाद को ही आगे बढ़ाया, अब चिथड़े-चिथड़े हो चुकी है। अब एक ऐसा समाज बनाना होगा जो सच्ची एकजुटता और प्राकृतिक पर्यावरण और सभी मानवों, जिनके साथ हम यह नाजुक धरती साझा करते हैं, के प्रति देखरेख पर आधारित हो।

यह पूँजीपति वर्ग का एक डरावना सपना है। और इसीलिए हम उन पर भरोसा नहीं कर सकते कि वे इस बदलाव को नेतृत्व देंगे। वैज्ञानिकों की इतनी चेतावनियाँ उनके और उनके संसदीय नौकरों को समझाने के लिए पर्याप्त नहीं है कि सदियों से उन्होनें जो व्यवस्था बनायी है, जिसने उन्हें पैदा किया है और जो लगातार अनगिनत धनी लोगों को पैदा करती रहेगी, उसे छोड़ दें।

हमारे समाज में अमीर और गरीब, पूँजीपति और मजदूर के कड़े विभाजन की पहचान करना, जलवायु संकट को समझने की किसी भी असली योजना का एक शुरुआती बिन्दु होना चाहिए। मुख्य सन्देश यह है कि हम उन पर भरोसा नहीं कर सकते, इसीलिए हमें खुद पर भरोसा करना होगा।

यही वह सन्देश था जो ग्रेटा थनबर्ग ने पिछले वर्ष पोलैंड में संयुक्त राष्ट्र जलवायु सम्मलेन में दिया था। उसने कहा, "हम यहाँ विश्व के अधिनायकों से अपने भविष्य की परवाह करने का निवेदन करने नहीं आये हैं"। "उन्होंने अतीत में भी हमारी उपेक्षा की है और भविष्य में भी करेंगे। हम यहाँ उन्हें यह बताने आये हैं कि बदलाव आ रहा है भले ही वह ऐसा चाहें या नहीं। लोग इस चुनौती के लिए उठेंगे।"

थनबर्ग का दृष्टिकोण एक जलवायु कार्यकर्ता के रूप में बिलकुल सही है। ताकतवरों के पैरों के नीचे अब और अधिक अपमानित नहीं होना है। अब और लॉबिंग (अमीरों के लिए दलाली) नहीं करनी है। बड़े घरानों और नेताओं को विश्वास में लेने के लिए बड़ी ही सावधानीपूर्वक लिखी गयी अब कोई ऐसी रिपोर्ट नहीं, जो यह बताये कि इस मुद्दे को उनकी बनी बनायी व्यवस्था में बिना किसी वास्तविक चुनौती दिये सम्बोधित किया जा सकता है। जलवायु परिवर्तन पर हमारे शासकों की आपराधिक निष्क्रियता, जो हमारी पृथ्वी को तबाही के कगार पर ले आयी है, उससे सामना करने का एकमात्र रास्ता क्रान्ति ही है।

1848 में, जब कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखा, उन्होंने इसे क्रान्ति के बिगुल के आह्वान के साथ ही समाप्त किया--

"मजदूरों के पास अपनी बेड़ियों के अलावा खोने के लिए कुछ नहीं है। और जीतने के लिए सारा संसार है।"

आज, क्रान्ति की जरूरत बहुत अधिक है। अब यह और नहीं चल पायेगा कि "खोने के लिए बेड़ियों के अलावा और कुछ नहीं है"। बस जोखिम यही है कि यदि हम अपने शासकों के पर्यावरण के विनाशकारी ढर्रों को यूँ ही जारी रखने देते हैं, तब हम यह संसार भी खो देंगे और तब हमारे पास जीतने के लिए कुछ भी नहीं बचेगा।

इस परिणाम को न आ सकने देना ही हमारी पीढ़ी का अतिआवश्यक कार्य है।

(अनुवाद-- रुचि मित्तल)

पृष्ठ 37 का शेष...

वाली नौकरी समझते हैं। सबसे आगे निकलने की होड़ हँसते-खेलते नौजवानों की हर खुशी छीन लेती है। उसे स्कूल, कालेज और समाज हर जगह बताया जाता है कि तुम फेल हुए तो कुछ नहीं हो, किसी लायक नहीं हो। समाज के लिए कचरा हो। यही शब्द थे चार्ल्स के भी कि -मैं किसी लायक नहीं हूँ।

वास्तव में यह उसके शब्द नहीं थे। समाज ने जो उसे अलग-अलग श्रोतों से दिया उसने उसे व्यवहार में उतार दिया। उसके दिमाग को यही तार्किक लगा कि जब वह किसी लायक ही नहीं है तो उसे जीने का ही हक़ क्यों हो।

हमारे देश में हर साल हजारों छात्र आत्महत्या करते हैं। क्या सरकार ने इनके पीछे कारणों को जानने के लिए कोई समिति बनायी? क्या किसी यूनिवर्सिटी में रिसर्च हुई? यूनिवर्सिटी ऑफ़ मैनचेस्टर में एक छात्र ने दक्षिण भारत में आत्महत्याओं के ऊपर एक थीसिस की है। या फिर अमरीका बेस्ड एक संस्था है एनसीबीआई उसने कुछ रिसर्च पेपर छापे हैं। पर भारत सरकार और भारतीय यूनिवर्सिटी इस विषय पर आँखें मूंदकर बैठी हुई हैं।

अभी तक तो हमारे देश में आत्महत्याओं को देखने का नजरिया ही बेहद संकुचित है। लोग इसे व्यक्तिगत घटना समझकर आगे बढ़ जाते हैं। जबकि यह देश में एक ट्रेंड के रूप में उभर कर आरहा है। नौजवानों के दिलों में हताशा, निराशा और असफलता के भाव गहराई से धंसते जारहे हैं। महंगी पढ़ाई और बेरोजगारी इसमें उत्प्रेरक का काम कर रही हैं। ऐसे में इतिहास को आगे ले जाने वाले नौजवान इस व्यवस्था के बनाये चक्रव्यूह में फंसकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर रहे हैं।

-- राजेश कुमार

पर्यावरण

पर्यावरण का विनाश करने वाली वोक्सवैगन माफी के लायक नहीं

-- ललित कुमार

भारत ने पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने के लिए बदनाम वोक्सवैगन कम्पनी पर आर्थिक दण्ड के रूप में कानूनी कार्रवाई की थी और इस पर 500 करोड़ का जुर्माना लगाया था। लेकिन हाल ही में सुप्रीम कोर्ट का हैरान करने वाला फैसला आया। कोर्ट ने 500 करोड़ रुपये के आर्थिक दण्ड पर रोक लगा दी। क्या यह फैसला पर्यावरण और मानव जाति के भविष्य को देखते हुए अनुचित नहीं लगता?

5-6 साल पहले पर्यावरण को प्रदूषित करने के लिए कार निर्माता कम्पनी वोक्सवैगन चर्चा में रही थी। इस कम्पनी ने अपनी डीजल कारों में एक ऐसे उपकरण का इस्तेमाल किया था जो कारों से होने वाले हानिकारक गैसों के उत्सर्जन को कम करके दिखाता था, जबकि वास्तव में उसकी मात्रा तय सीमा से कई गुना ज्यादा थी। इससे पर्यावरण भयानक रूप से प्रदूषित हुआ था। इसीलिए लगभग सभी देशों ने इस कम्पनी के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की। इस जालसाजी के चलते कम्पनी के कई आला अधिकारियों को कई देशों के न्यायालयों ने जेल की सजा सुनाई और लगभग 33 अरब डॉलर का आर्थिक दण्ड भी लगाया।

ऑटोमोटिव क्षेत्र का यह अब तक का सबसे बड़ा घोटाला है। वोक्सवैगन को जनरल मोटर्स के नाम से भी जाना जाता है। यह कम्पनी दुनिया के लगभग सभी देशों में अपनी डीजल कार बेचती है। जब यह कारें चलती हैं तब इनसे पर्यावरण और मानव जगत को नुकसान पहुँचाने वाली हानिकारक गैसें निकलती हैं। खासतौर से नाइट्रोजन ऑक्साइड का उत्सर्जन होता है जिसके कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है और आये दिन तमाम तरह की जानलेवा बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। इसलिए पर्यावरण को सन्तुलित और सुरक्षित रखने के लिए गाड़ियों से निकलने वाले उत्सर्जन की सीमा तय कर दी गयी जिससे ज्यादा उत्सर्जन करने वाली गाड़ियों पर रोक लगा दी जाती है।

वोक्सवैगन के डीजल इंजन वाली कारों से तय सीमा से कई गुना ज्यादा उत्सर्जन हो रहा था। यह बात कम्पनी के सीईओ और बड़े अधिकारियों को पता थी। इस उत्सर्जन को कम करने के लिए कम्पनी को शोध पर रुपया खर्च करना पड़ता। लेकिन कम्पनी ने अपने मुनाफे को बरकरार रखने और उसकी रफ्तार बढ़ाने के लिए इस समस्या की अनदेखी की। दुनिया की नजर से इस बात को छिपाने के लिए ऐसे उपकरण लगाये गये जो उत्सर्जन को कम करके दिखाते थे, जिसके चलते इस कम्पनी को सभी देशों की सरकारों ने अनुमति दे दी। इसका फायदा उठाते हुए इस कम्पनी ने 1 करोड़ 11 लाख कारें दुनिया के तमाम देशों में बेच दी।

2013 में जर्मनी में पर्यावरण सुरक्षा से सम्बन्धित मुद्दों पर काम करनेवाली "इंटरनेशनल काउन्सिल" नामक एक गैर सरकारी संस्था ने जनरल मोटर्स का उत्सर्जन से सम्बधित आँकड़ा जुटाया था। कम्पनी की तरफ से हेमन्त कम्पाना को इस संस्था के साथ मिलकर काम करना था। इसी दौरान हेमंत को अपनी कम्पनी के उत्सर्जन से सम्बन्धित मानक पर सन्देह हुआ। उन्होंने और उनकी टीम ने लैब में परीक्षण किये और पाया कि उत्सर्जन की दर बताने वाले जो उपकरण लगाये गये हैं वे उसे कम करके दिखाते हैं। उनकी टीम ने कम्पनी की इस धोखाधड़ी को दुनिया के सामने लाया। यूरोपीय और अमरीकी मीडिया में यह मुद्दा जोर-शोर से उठाया गया। उसके बाद कम्पनी ने हेमंत कप्पान्ना को नौकरी से निकाल दिया। अगर हेमंत और उनकी टीम इस षड़यंत्र का पर्दाफाश न करती तो पर्यावरण को भारी तबाही होती।

यूरोप, फ्रांस, दक्षिण कोरिया, जर्मनी और अमरीकी नागरिकों तथा मीडिया के भारी दबाव के चलते सरकारों को इस कम्पनी के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करनी पड़ी। जर्मनी ने इस कम्पनी पर 8,300 करोड़ डॉलर का आर्थिक दण्ड लगाया और कई बड़े अधिकारियों को जेल की सजा भी सुनायी। अमरीकी सरकार ने भी कम्पनी के दो बड़े अधिकरियों को जेल की सजा सुनायी और 32 अरब डॉलर का आर्थिक दण्ड भी लगाया। इसके अलावा अमरीकी पर्यावरण संरक्षण एजेंसी को 2.7 अरब डॉलर का मुआवजा चुकाने का आदेश भी दिया। साथ ही, लगभग 5 लाख कार मालिकों से अपनी हानिकारक कारों को वापस लेने और बदले में दूसरी कार या उनकी रकम वापस करने के आदेश भी दिये।

इस कम्पनी की कारों ने यूरोप में तय सीमा से चार गुना और भारत में लगभग ढाई गुना ज्यादा उत्सर्जन किया। यही कारण है कि इस कम्पनी पर अभी भी अमरीकी न्याय विभाग, संघीय अपराध आयोग और दर्जन भर प्रांतीय जाँच एजेंसी द्वारा अपराधिक जाँच का मामला चल रहा है। कम्पनी के खिलाफ बढ़ते जन आक्रोश को देखते हुए कम्पनी के सीईओ मथायस म्यूलर ने अपनी गलती को स्वीकार किया। उन्होंने माना कि उनकी कम्पनी ने सब कुछ जानते हुए भी ऐसे उपकरण लगाये जो वास्तविक उत्सर्जन को कम करके दिखाते थे।

पर्यावरण और दुनिया की आवाम के लिए नाइट्रोजन ऑक्साइड एक जहरीली और जानलेवा बीमारियाँ पैदा करने वाली गैस है। इस गैस का मुख्य स्रोत डीजल है। जब कार इंजन में डीजल का दहन होता है तब यह गैस धुएँ के रूप में बाहर निकलती है और वातावरण की हवा में मिल जाती है। जब हम साँस लेते हैं तब यह फेफड़ों के माध्यम से शरीर में प्रवेश कर जाती है जिसके चलते फेफड़ों में सूजन, दमा की बीमारी, फेफड़ों और मूत्राशय में कैंसर होने की सम्भावना बढ़ जाती है। सबसे ज्यादा खतरा महिलाओं के गर्भ में पल रहे बच्चे पर होता है। इससे लोगों की दिमागी सक्रियता भी कम हो जाती है। पेड़-पोधों और वनस्पति पर भी इस गैस का बुरा प्रभाव पड़ता है।

विकसित देशों के नागरिक जागरूक हैं और उन्हें मीडिया का अकसर सहयोग मिल जाता है जिसके चलते सरकारों पर भारी दबावों के कारण ऐसी पर्यावरण विरोधी कम्पनियों पर कुछ कार्रवाई हो जाती है। लेकिन भारत जैसे कम विकसित देशों में ऐसी कम्पनियाँ बेधड़क अपना व्यापार बढाती हैं। जिन राक्षसी कम्पनियों को यूरोप और अमरीका के नागरिकों द्वारा भगा दिया जाता है, उन कम्पनियों के लिए हमारी सरकारें लाल कालीन बिछाकर स्वागत करती हैं और उन्हें हर तरह की छूट देने की भरसक कोशिश करती हैं। यह केवल अकेली घटना नहीं है, असल में इससे ज्यादा भयानक घटनाएँ देर-सवेर हमारे सामने आती रहती हैं।

सबसे बड़ा सवाल यह है कि जब पृथ्वी नष्ट हो जाएगी तब हम रहेंगे कहाँ? आज की पूँजीवादी व्यवस्था जो अपनी सनक के आगे पर्यावरण का विनाश करनेवाले आँख मूँद कर इजाजत दे रही है उससे हमें मिल-जुलकर मुकाबला करना होगा। तभी जाकर पृथ्वी सुरक्षित रह सकती है।

अफ्रीकी कवि नियी ओसुन्दरे की कविता

राजनेता के दो मुँह

राजनेता के दो मुँह होते हैं
एसिमुदा की दुधारी तलवार की तरह
यह दोनों तरफ से हत्या है

क्या वह राजनेता नहीं
जो एक साँप को देखता है
और उसे केंचुआ कहता है?
वोट के लिए साष्टांग दण्डवत करता है
लेकिन उसका दिमाग उकडू बैठा होता है
भूखे कुत्ते की तरह

अफसोस, एक पतली झिल्ली ढँकती है उसकी पेट
हम देख नहीं पाते एक झूठे भेड़िये के भीतर

जब सत्ताधारी आदमी
अपनी कहानी सुना रहा हो
तो उसे कहिये कि ठहरो
हम एक छन्नी लेकर आते हैं

जो कोई विश्वास करता है राजनेता कि बातों पर
उसके कान बन्द हो गये हैं सच्चाई की लाश से

एक राजनेता आप से इन्तजार करने को कहता है
और आप उसकी बातों पर ध्यान देते हो
हाय! दोस्त,
आपका अन्तर्मन अहसास करायेगा
इस मूर्खता की तीखी पीड़ा का

राजनेता के दो मुँह होते हैं
दोनों गोरे आदमी के उस्तरे की तर3ह धारदार।

अनुवाद-- दिगम्बर

प्रधानमंत्री के लिए हर मौत के मायने अलग हैं।

प्रधानमंत्री के ट्विटर एकाउंट पर एक नजर डालिए। उससे साफ पता चलता है कि साहब के पास सूचनाओं की कमी नहीं है। देश-दुनिया की हर महत्त्वपूर्ण घटना की सूचना इनके पास पहुँचती है। राजस्थान के बाड़मेर में पंडाल गिरने से हुई मौत पर माननीय प्रधानमंत्री मौन नहीं रहे, उन्होंने चुप्पी तोड़ी और एक संवेदनशील नागरिक होने का परिचय दिया, जो कि खुशी की बात है। अपने ट्विटर खाते से लिखा कि "राजस्थान के बाड़मेर में एक 'पंडाल' का गिरना दुर्भाग्यपूर्ण है। मेरे विचार शोकाकुल परिवारों के साथ हैं और मैं घायलों के शीघ्र स्वास्थ्य लाभ की कामना करता हूँ।"

20 जून को कुल्लू में एक बस दुर्घटनाग्रस्त हुई। प्रधानमंत्री ने गहरा दुख व्यक्त किया और अपने व्यस्ततम दिनचर्या से समय निकालकर ट्विटर खाते से कहा, "कुल्लू में बस हादसे से गहरा दुख, जान गँवाने वालों के परिवारों के प्रति संवेदना। मुझे उम्मीद है कि घायल जल्द ठीक हो जाएँगे। हिमाचल प्रदेश सरकार हर सम्भव सहायता प्रदान कर रही है जो आवश्यक है।"

जब वे श्रीलंका की यात्रा पर गये तो उन्हें आतंकवाद की वजह से मरे बच्चों की याद आयी। उन्होंने लिखा, "पिछले रविवार श्रीलंका की अपनी यात्रा के दौरान, मैं सेंट एंटनी के चर्च गया था। वहाँ मुझे आतंकवाद के उस घिनौने चेहरे का स्मरण हुआ जो हर कहीं, कभी भी प्रकट होकर रोज मासूमों की जान लेता है।"

इन सब घटनाओं पर दुख व्यक्त करना और टिप्पणी करना प्रधामंत्री के मानवीय चेहरे को पेश करता है। कहीं न कहीं दिखाता है कि वह सिर्फ 24 घंटे राजनीतिक काम करने वाले व्यक्ति ही नहीं बल्कि उनमें एक आम नागरिक की संवेदना भी है। उन्हें भी दुःख पहुँचता है। मासूम की जान जाने पर ओछी राजनीति नहीं करते बल्कि उसके लिए उनका हृदय व्याकुल हो उठता है। दर्द से भर आता है।

पर जिन घटनाओं का प्रधानमंत्री जिक्र करना नहीं भूलते उनमें एक चीज कॉमन है। वह है कि ये घटनाएँ या तो दुर्घटना हैं या आतंकवादी घटनाएँ या प्राकृतिक आपदाएँ। इन घटनाओं का एक लक्षण है कि इनके लिए कोई सीधे व्यवस्था को जिम्मेदार नहीं ठहराता। लोग अपनी खराब किस्मत समझकर दुख को बर्दास्त करते हैं। अंधविश्वास का बोलबाला होने के चलते ज्यादातर तो यही मानकर सब्र कर लेते हैं कि हमारे भाग्य में यही लिखा था या हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है।

ऐसे लोगों के साथ प्रधानमत्री की संवेदना बिना देर किये जुड़ जाती हैं। हृदय रोष से भर आता है। पूरी प्रकृति को बदल देने के सपने आने लगते हैं। मुट्ठी बन्द करके आतंकवाद को जड़ से खत्म करने की कसम खाते हैं।

अब दूसरी तरह की घटनाएँ हैं-- व्यवस्थाजन्य घटनाएँ। ऐसी घटना जिनके लिए खुद सरकार, शासन-प्रशासन और यह पूँजीवादी व्यवस्था जिम्मेदार है। जैसे मुजफ्फरपुर के अस्पताल में बिना दवा और डॉक्टरों के बीमार बच्चों की मौत। गोरखपुर के अस्पताल में बीमार बच्चों की ऑक्सीजन की कमी के चलते मौत। इस तरह की मौतों के लिए शासन-प्रशासन पूरी तरह से जिम्मेदार होता है। सरकारें जिम्मेदार और जवाबदेह होती हैं। ऐसी खबरें माननीय प्रधानमंत्री जी को प्रभावित नहीं कर पातीं। क्या वजह है? क्या इनमें एक्सीडेंट की तरह खून नहीं बहता इसलिए माननीय प्रधानमंत्री को पसन्द नहीं आतीं। क्या इन मौतों में बम धमाके जितनी आवाज नहीं होती इसलिए उनका ध्यान नहीं जाता?

व्यवस्थाजन्य मौतों में एक चीज कॉमन होती है कि ये मौतें इस मुनाफे पर आधारित व्यवस्था की पोल खोलती हैं। अस्पताल में बच्चों की मौत सरकारों को नंगा करती हैं। देवताओं की नीन्द में खलल डालती हैं। प्रधानमंत्री के रोज अट्ठारह घंटे काम करने की सच्चाई को उजागर करती हैं। अगर ये मौत किसी प्राकृतिक आपदा से होतीं तो प्रधानमंत्री संवेदना व्यक्त करने में सबसे आगे खड़े होते। अब तक किसी न किसी भाषण में रो दिये होते। गमगीन चेहरे की फोटो वायरल हो गयी होती।

कुछ व्यवस्थाजन्य घटनाओं पर जरूर माननीय प्रधानमंत्री जी ने चुप्पी तोड़ी है जैसे बंगाल में पुल गिर जाने से हुई मौत। उस समय वहाँ ममता बनर्जी की सरकार थी। मतलब यह हुआ कि व्यवस्थाजन्य नरसंहार पर भी वे बोल सकते हैं, काफी अच्छा बोल सकते हैं, बशर्ते वहाँ सरकार गैर भाजपाई हो और चुनाव नजदीक हो। हालाँकि बनारस में पुल गिरने की घटना पर प्रधानमंत्री मौन धारण कर लेते हैं।

इससे साफ पता चलता है कि प्रधानमंत्री जी का हृदय मानवीय संवेदनाओं से नहीं बल्कि राजनीतिक हानि-लाभ से जुड़ा हुआ है। किन मौत पर रोना-धोना है और किन पर चुप लगा जाना है, यह बात वह बखूबी जानते हैं। चूँकि उनकी संवेदनाएँ सत्ता और कुर्सी से संचालित होती हैं, इसलिए वे तोल-मोल कर बोलते हैं।

-- राजेश कुमार

येदियुरप्पा की डायरी : भ्रष्टाचार का काला चिट्ठा

लोकसभा चुनाव से ठीक पहले कांग्रेस के वरिष्ठ नेता और कोर कमेटी के सदस्य सुरजेवाला ने कर्नाटक के भाजपा प्रत्याशी और पूर्व मुख्यमंत्री बीएस येदियुरप्पा पर भाजपा के केन्द्रीय कमेटी, राष्ट्रीय और केन्द्रीय नेताओं, जजों और वकीलों को 1800 करोड़ रुपये रिश्वत देने का आरोप लगाया। येदियुरप्पा पर अन्य नेताओं, कैबिनेट मन्त्रियों और विधायकों से 2690 करोड़ रुपये रिश्वत वसूलने का भी आरोप लगा। सुरजेवाला ने कारवाँ पत्रिका की उस रिपोर्ट को आधार बनाया जिसके साक्ष्य येदियुरप्पा की डायरी से लिये गये थे और जिस डायरी पर येदियुरप्पा के हस्ताक्षर थे। 2019 के चुनाव के दौरान वित्त मंत्री अरुण जेटली ने इन आरोपों को खारिज कर दिया।

कारवाँ पत्रिका के मुताबिक, येदियुरप्पा ने इस डायरी में सभी भुगतानों को दिनांक और हस्ताक्षर के साथ नोट किया है। डायरी के विवरण के मुताबिक येदियुरप्पा ने ये सभी भुगतान वर्ष 2009 में किये थे। जबकि मई 2008 में येदियुरप्पा ने कर्नाटक के मुख्यमंत्री का पद सम्भाला था। कर्नाटक में येदियुरप्पा को बहुमत के लिए कुल 113 सीटें चाहिए थीं। लेकिन उन्हें 110 सीटें ही मिली। उन्होंने सरकार बनाने के लिए 6 निर्दलीय उम्मीदवारों के साथ गठबन्धन किया और इनमें से 5 को कैबिनेट में प्रमुख पद भी दिये।

डायरी की प्रविष्ठि के मुताबिक येदियुरप्पा ने मुख्यमंत्री बनने के छः महीने बाद ही भाजपा की केन्द्रीय कमेटी को एक हजार करोड़ रुपये दिये। मतलब साफ है कि मुख्यमंत्री बनने के बदले येदियुरप्पा ने भाजपा के कोर कमेटी को खुश करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने वित्तमंत्री अरुण जेटली और परिवहन मंत्री नितिन गडकरी को 150-150 करोड़ रुपये, गृहमंत्री राजनाथ सिंह को 100 करोड़, भाजपा के वरिष्ठ नेता लालकृष्ण आडवाणी और मुरली मनोहर जोशी को 50-50 करोड़ रुपये दिये। इन सभी की प्रविष्ठि डायरी में हस्ताक्षर के साथ दर्ज है। इसके अलावा जजों को 250 करोड़ रुपये और वकीलों को 50 करोड़ रुपये देने की प्रविष्ठि भी दर्ज है। लेकिन डायरी में किसी वकील या जज का नाम नहीं है।

रिपोर्ट के मुताबिक येदियुरप्पा की इस डायरी की कॉपी 2017 से भाजपा सरकार और आयकर विभाग के पास है। आयकर विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी ने इस डायरी की जाँच प्रवर्तन निदेशालय से कराने के लिए वित्तमंत्री अरुण जेटली के पास एक नोट भेजा था। लेकिन इस डायरी के पन्नों में खुद अरुण जेटली और उनकी पार्टी के केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों के नाम थे। जाहिर है कि इसके बाद वित्तमंत्री इस नोट पर कोई कार्यवाई क्यों करते? 2004 से 2013 के बीच अरुण जेटली कर्नाटक के पार्टी इंचार्ज थे और इस दौरान हुए चुनावों में पार्टी को देख रहे थे। येदियुरप्पा ने यह कहकर अपना पीछा छुड़ाया कि उन्हें डायरी लिखने की आदत नहीं है। जाँच एजेन्सियों ने यह कहकर कि हेंडराइटिंग जाँच के लिए मूलप्रति होना जरूरी है, मामले को रफा-दफा किया और आगे की कार्यवाही बन्द कर दी गयी। क्या इतने बड़े मामले को यूँ ही बन्द करना कुछ और इशारा नहीं करता। अगर डायरी की मूल प्रति नहीं भी है, फिरभी इतने बड़े रिश्वत के आरोप सरकार पर लगे हैं तो उसे इस मामले की जाँच क्यों नहीं करानी चाहिए?

येदियुरप्पा ने लिखा है कि "मुझे मुख्यमंत्री बनाने में जी जर्नादन रेड्डी की मुख्य भूमिका है।" दरअसल रेड्डी ने येदियुरप्पा की बहुमत के लिए विपक्षी नेताओं को मनाने का काम किया था। डायरी के मुताबिक रेड्डी ने 8 नेताओं को 150 करोड़ रुपये दिये। इसके बदले रेड्डी को 2008 की येदियुरप्पा सरकार में पर्यटन, संरचना विकास मंत्री का पद दिया गया। रेड्डी कर्नाटक के धनी राजनीतिज्ञों में से एक हैं। रेड्डी के ऊपर खनन माफियाओं और फ्रॉड कम्पनियों से रिश्वत लेने जैसे कितने ही आरोप हैं। रेड्डी 2011 में तीन साल की जेल भी काट चुके हैं।

इन सब के साथ डायरी में तमाम स्रोतों से वसूले गये पैसे का भी हिसाब है। इस एंट्री में 26 लोगों का नाम है, जिसमें पाँच करोड़ से 500 करोड़ तक प्राप्त किये गये हैं। कुल मिलाकर 2690 करोड़ रुपये वसूले गये और जिसमे से 1800 करोड़ बाँट डाले गये।

कारवाँ पत्रिका की रिपोर्टिंग से ऐसा लगता है कि इस भ्रष्टाचार में वे लोग शामिल हैं जो आज देश के सबसे बड़े पदों पर आसीन हैं। इनके हाथों में रक्षा मंत्रालय, विदेश मंत्रालय, वित्त मंत्रालय, पीएमओ और देश की बागडोर है। जजों और वकीलों को भी रिश्वत दिये गये हैं जो न्याय और कानून के रखवाले माने जाते हैं। मुख्यमंत्री रहते हुए येदियुरप्पा ने अपने बेटे की स्टील कम्पनी को फायदा पहुँचाने के लिए सरकारी स्टील कम्पनी के निर्यात को रोककर उसके लौह अयस्क की कीमत कम करवा दी थी। येदियुरप्पा अवैध खनन के मामले में 2011 में जेल जा चुके हैं। भाजपा ने भी येदियुरप्पा से किनारा कर लिया था। लेकिन येदियुरप्पा को भाजपा ने दुबारा पार्टी में शामिल कर लिया। क्योंकि वह कर्नाटक के लिए भाजपा के तुरुप के इक्के हैं। साथ ही उन्हें भाजपा को खुश करना आता है। यह उनकी डायरी के पन्नों से पता चलता है।

क्या ऐसी वारदातों के बाद लोगों का भरोसा व्यवस्था पर कायम रह पायेगा? येदियुरप्पा की डायरी के पन्ने की कॉपी ने पूरी व्यवस्था पर सवाल उठाया है। पर कानून, न्यायालय, सरकार सब मौन है। ऐसी मूक व्यवस्था पर भरोसा करें तो कैसे? जब यह व्यवस्था अपना न्याय नहीं कर पा रही है, तो आम जनता की समस्याओं का क्या करेंगी?

-- अनुराग मौर्य

बुद्धिजीवियों से नफरत क्यों करते हैं दक्षिणपंथी?

एक दक्षिणपंथी कभी बुद्धिजीवी क्यों नहीं हो सकता? या फिर अधिकतर दक्षिणपंथी बुद्धिजीवियों से नफरत क्यों करते हैं? ये दोनों बातें एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अक्सर दक्षिणपंथी पांडित्य को बौद्धिकता मान लेते हैं और बताते हैं कि फलां साइंटिस्ट और फलां आईआईटियन हमें सपोर्ट करते हैं और हमारे विचारों को फॉलो करते हैं।

मगर ऊँची डिग्रीधारी होने का बौद्धिकता से कोई वास्ता नहीं है। बौद्धिक होने की कुछ शर्तें हैं। यदि कोई उसे पूरा करता है तो वह अपने-आप दक्षिणपंथ से दूर चला जाएगा।

पहली शर्त है ऑब्जेक्टिविटी, यानी वस्तुपरकता। यानी कि किसी विचार, सिद्धान्त, अनुभव को अपने निजी पूर्वाग्रह, पसन्द-नापसन्द, लाभ-हानि, अनुभवजन्यता से हटकर उसे जैसा है, ठीक उसी रूप में समझना और बरतना। जब हम एक वस्तुपरक सोच को अपने जीवन की कसौटी बनाते हैं तो वह हम जैसे दूसरे इनसानों के साथ दूरियाँ कम करता है। वैज्ञानिकता का उदय ही आत्मपरक और संकीर्ण अनुभव से हटकर सोचने के साथ हुआ।

गैलीलियो ने अपने प्रयोगों के माध्यम से यह पाया कि पृथ्वी समेत सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, जबकि उस समय तक का अनुभवजन्य सिद्धान्त यह कहता था कि ब्रह्मांड के केन्द्र में पृथ्वी स्थित है तथा सूर्य और चन्द्रमा सहित सभी आकाशीय पिंड लगातार पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। नतीजा गैलीलियो को चर्च के कोप का शिकार होकर उम्र-कैद काटनी पड़ी।

वस्तुपरक होना ज्ञान के दरवाजे खोलता है। यह 'मैं' और 'अन्य' के सिद्धान्त को खत्म करता है। यहीं से दृष्टिकोण बनने शुरू होते हैं। राष्ट्र की संकल्पना, प्रवासियों की समस्या, अन्य धार्मिक रीति-रिवाज सब कुछ इसी दृष्टि की वजह से तय होता है। यदि आप वस्तुनिष्ठ सोच पर यकीन रखते हैं तो आपके जीवन में अन्य के लिए जगह होगी। आपके जीवन में असहमति के लिए जगह होगी। आपके जीवन में दूसरों के द्वारा कही गयी बातों के लिए जगह होगी। यदि नहीं होगी तो आप दीवारें खड़ी करेंगे।

दक्षिणपंथ दीवारें खड़ी करता है। देशों के बीच-- राष्ट्र की श्रेष्ठता का सिद्धान्त रचकर। विचारधाराओं के बीच-- वैचारिक असहमतियों और अन्य लोगों के विचारों के प्रति असहिष्णु होकर। जनता के बीच-- धर्म, जाति, भाषा, नस्ल, लोकाचार, रहन-सहन और खान-पान में विभेद करके। परिवार के बीच-- परिवार में स्त्री, व कनिष्ठों जैसे युवाओं या बच्चों को निर्णय लेने के अधिकार से वंचित करके। अन्ततः दीवारें खड़ी करते-करते एक दक्षिणपंथी अपने ही चारों तरफ दीवारें खड़ी कर देता है और वह कूपमण्डूक बनकर उसी में कैद हो जाता है।

बौद्धिकता की दूसरी शर्त है उर्ध्वमुखी होना। आगे की तरफ बढ़ना। गतिमान होना। प्रकृति भी सतत परिवर्तन का हिस्सा है। जीवन में बदलाव को स्वीकारना ही आगे बढ़ना है। यह आपको नयी सोच, नये अनुभव, नयी दृष्टि की ओर प्रेरित करता है।

गैलीलियो से पहले कोपरनिकस ने भी सूर्य के चारों तरफ चक्कर लगाने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। यह धर्मग्रंथ बाइबिल के खिलाफ जाने का साहस करना था। उन्होंने वह साहस किया। नये को अपनाया। इसकी सजा भी दोनों को मिली। मगर गैलीलियो ने खगोलीय दूरबीन और गणितीय गणना के आधार पर उसी सिद्धान्त को ज्यादा बेहतर ढंग से सामने रखा। वह इसलिए क्योंकि उन्होंने 16वीं सदी में बनी दूरबीन का प्रयोग करने में पहल की। मनुष्य के जीवन का हर ज्ञान नयी बातों को स्वीकारने से पैदा हुआ है। नये देशों की खोज, नदी के भीतर की दुनिया की तलाश, चन्द्रमा की खोज, अन्तरिक्ष की खोज इसी तरह हुई है।

इसके विपरीत दक्षिणपंथी विचारधारा हमारी सोच को अतीत की तरफ ले जाती है। वह उन प्रतीकों पर बल देती है जिनके आधार पर मनुष्य के समूह को किसी खाँचे में बाँटा जा सके, किसी दायरे में समेटा जा सके। इस प्रक्रिया में वह क्रमशः प्रश्न पूछने का निषेध करता है, तर्क-वितर्क का निषेध करती है, असहमति का निषेध करती है।

अब हम बौद्धिक होने की तीसरी शर्त की तरफ मुड़ते हैं। वह है तार्किक होना। इसका आशय बहस और तर्क-वितर्क भर नहीं है। इसका आशय यह है कि कुछ भी स्वीकार करने से पहले उसे समझना, तर्कों की कसौटी पर कसना और फिर अपनाना।

वहीं दक्षिणपंथ तर्क पर नहीं बल्कि भावनाओं को उद्वेलित करने पर यकीन रखता है। इसलिए वह सामूहिक प्रतीकों का इस्तेमाल करता है। जैसे राष्ट्र, धर्म, मातृछवि, वीरता आदि की भावना प्रधान कहानियाँ। इन तमाम मूल्यों के प्रति मनुष्य में स्वाभाविक संवेदना होती है, मगर दक्षिणपंथ में वह स्वाभाविक न होकर एक केन्द्रीय शक्ति द्वारा संचालित होती है। वह इनसान के विवेक को खत्म करना चाहता है।

फासीवाद के इन्हीं खतरों को महसूस करते हुए जर्मन नाटककार ब्रेख्त ने अलगाव का सिद्धान्त विकसित किया, जो नाटक का रसग्रहण करते समय में भी दर्शकों को लगातार यह बताता रहता था कि वे नाटक देख रहे हैं और जो देख रहे हैं एक निश्चित दूरी बनाये रखते हुए उन्हें उसका विश्लेषण करना होगा। सोचना और समझना होगा।

इन तीन शर्तों के बिना कोई बुद्धिजीवी हो सकता है, इस पर मुझे शक है। और इन तीनों शर्तों का पालन करने वाला दक्षिणपंथी नहीं हो सकता इस पर मुझे यकीन है।

(दिनेश श्रीनेत की फेसबुक वॉल से)

छल से वन अधिकारों का दमन

भारतीय वन कानून, 2019 का मसौदा बुनियादी संवैधानिक अधिकारों और सिद्धान्तों का माखौल उड़ाने वाला है।

वन अधिकार कानून, 2019 के मसौदे में वन क्षेत्र में काम कर रही नौकरशाही को शासन करने का अधिकार देने का प्रस्ताव है। देश के 7,08,273 वर्ग किलोमीटर के वन क्षेत्र पर शासन का दायित्व अब इनका होगा। नव-उदारवादी नीतियों पर चलते हुए वनों के व्यवसायीकरण का प्रस्ताव भी इसमें है।

नये मसौदे में ऐसे प्रस्ताव किये गये हैं जो 2006 के वन अधिकार कानून के प्रावधानों को नुकसान पहुँचाने वाले साबित होंगे। साथ ही इसमें राज्य सरकारों की वैधानिक और कार्यकारी शक्तियों को प्रभावित करने वाले संशोधन भी सुझाए गये हैं। इस मसौदे को राज्यों के पास उनकी प्रतिक्रिया के लिए भेजा गया है। यहाँ इसका उल्लेख जरूरी है कि यह मसौदा 13 फरवरी के सुप्रीम कोर्ट के उस विवादास्पद आदेश के बाद आया है जब केन्द्र सरकार वन अधिकार कानून का बचाव करने में नाकाम रही थी। यह भी एक विडम्बना है कि लोकसभा चुनावों के ठीक पहले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन ने एक ऐसे कानून लाने की कोशिश की जिससे सामाजिक तौर पर पिछड़े लोगों के हक नकारात्मक तौर पर प्रभावित होंगे।

नये मसौदे के तहत भारतीय वन कानून, 1927 में बड़े संशोधन किये जा रहे हैं। वन अधिकार कानून के प्रावधानों की अनदेखी करते हुए नये कानून के तहत वन अधिकारियों को कई विशेषाधिकार देने का प्रस्ताव किया गया है। वन अधिकारियों को अर्द्ध-न्यायिक अधिकार दिये गये हैं। इसके अलावा उन्हें वन से सम्बन्धित उल्लंघनों को रोकने के लिए आग्नेयास्त्रों के इस्तेमाल करने की अनुमति देने का प्रस्ताव भी नये मसौदे में शामिल है। वन से सम्बन्धित अपराधों के सन्देह पर वन अधिकारियों को गोली चलाने, तलाशी लेने, सम्पत्ति जब्त करने और लोगों को गिरफ्तार करने का अधिकार दिया गया है। जबकि खुद को निर्दोष साबित करने का पूरा बोझ आरोपित पर लाद दिया गया है। वहीं दूसरी तरफ वन अधिकारियों को उसी तरह की कानूनी सुरक्षा दी जा रही है जिस तरह की सुरक्षा सशस्त्र बल विशेष अधिकार कानून, 1958 के तहत संघर्ष वाले क्षेत्रों में तैनात जवानों को मिली हुई है।

वन अधिकार कानून को नुकसान पहुँचाने वाला एक और विवादास्पद प्रावधान यह है कि केन्द्र सरकार से विचार-विमर्श करके राज्य सरकार वन से सम्बन्धित अधिकारों को कम कर सकती है अगर इससे संरक्षण का काम प्रभावित हो रहा हो। यह काम वनों पर आश्रित लोगों को या तो जमीन देकर किया जाएगा या उन्हें पैसे दिये जाएँगे। इसका मतलब यह हुआ कि उन्हें जंगल से निकाला जाएगा। साफ है कि जिस तरह से जंगल में रहने वाले लोगों के हकों की उपेक्षा ऐतिहासिक तौर पर हुई है और चुनी हुई लोकतांत्रिक सरकारों ने भी किया है, वह चीज आगे भी बरकरार रहेगी।

मसौदे में यह भी कहा गया है कि अगर केन्द्र सरकार और राज्य सरकार के कानूनों के बीच कोई विरोधाभास होगा तो केन्द्र का कानून प्रभावी होगा। यह संविधान में मुहैया कराई गयी संघीय व्यवस्था के खिलाफ जाता है। 'ग्रामीण वन' का प्रस्ताव करके ग्राम सभा की भूमिका की अनदेखी करने की योजना भी इसमें शामिल है। इससे विकेन्द्रीकरण की भावना प्रभावित होगी। स्पष्ट है कि अगर ये संशोधन लागू हो जाते हैं तो संविधान में जो अधिकार आम लोगों को मिले हुए हैं, उनका उल्लंघन होगा।

जंगलों के निजीकरण का प्रस्ताव भी इसमें शामिल है। साथ ही 'उत्पादन वन' की अवधारणा भी लायी गयी है। इससे वन अधिकार कानून के तहत मिले अधिकार प्रभावित होंगे। इससे स्थानीय लोगों के अधिकार की जगह वनों पर निजी लोगों का अधिकार विकसित होगा।

अब सवाल यह उठता है कि आखिर क्यों केन्द्र सरकार जंगलों में रहने वाले लोगों के बुनियादी अधिकारों को चोट पहुँचाने वाला कानून लाना चाह रही है और जंगलों को संघर्ष क्षेत्र में तब्दील करना चाह रही है? हैरानी तो इस बात से भी होती है। आखिर कैसे इतने महत्त्वपूर्ण कानून को बगैर व्यापक राजनीतिक विमर्श और जनता से संवाद किये बिना संशोधित किया जा रहा है।

एक ऐसे देश में जहाँ आदिवासी इलाकों में गरीबी काफी अधिक है, ऐसी कोशिश दुर्भाग्यपूर्ण है। ऐसा लगता है कि जंगलों का सही प्रशासन किसी राजनीतिक दल के लिए मुद्दा नहीं है। भारतीय जनता पार्टी के घोषणापत्र में वन अधिकार कानून के क्रियान्वयन से सम्बन्धित विषयों पर कुछ नहीं कहा गया है। जबकि कांग्रेस के घोषणापत्र में यह जिक्र है कि वह जंगलों के प्रबन्धन में स्थानीय लोगों की व्यापक भागीदारी के लिए एक तंत्र विकसित करेगी।

जंगलों पर आश्रित समुदायों के हित में यह जरूरी है कि दमनकारी और गलत संशोधनों को खारिज कर दिया जाए और जंगलों के प्रशासन में गरीबपरस्त और लोकतांत्रिक रवैया अपनाया जाए। अगर ये संशोधन लागू हो जाते हैं तो इससे नये तरह की असमानता पैदा होगी और सरकार की मदद से जंगलों पर आश्रित लोगों को कई स्तर पर बेदखल करने की शुरुआत हो जाएगी।

(ईपीडब्लू डॉट इन से साभार)

आईआईटी हैदराबाद के छात्र मार्क एंड्रयू चार्ल्स की आत्महत्या

दो जुलाई को आईआईटी हैदराबाद में मास्टर ऑफ टेक्नोलॉजी (एम टेक) के छात्र मार्क एंड्रयू चार्ल्स ने आत्महत्या कर ली। चार्ल्स का परिवार उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले के नरिया लंका इलाके में रहता है। चार्ल्स इस दुनिया से हमेशा के लिए विदा हो गया है। अपने पीछे वह एक पत्र छोड़कर गया है जिसमें आईटी सेक्टर में काम कर रहे उसके दोस्तों के लिए कुछ नसीहतें हैं। कि यार जी लो! एक ही जिन्दगी है। कंपनियों के चक्कर में बर्बाद मत करो। इस संस्थान की इस साल में यह दूसरी आत्महत्या है। इसी साल 31 जनवरी को मैकेनिकल इंजीनियरिंग के तीसरे वर्ष के छात्र अनिरुद्ध ने हॉस्टल की छत से छलाँग लगाकर आत्महत्या कर ली थी।

आँखों में आँसू लिए चार्ल्स की माँ कहती हैं कि "उनका बेटा सकारात्मकता से भरा हुआ था। वह तेज-तर्रार और खुद पर भरोसा करने वाला था। जो भी है, दो साल में इस इंस्टीट्यूट ने उसे तोड़ दिया। डिजाइन विभाग के प्रोफेसर, उसके गाइड और यह इंस्टीट्यूट मेरे बेटे की मौत के लिए जिम्मेदार हैं। इस इंस्टीट्यूट में जो अपमान उसने सहा उसकी वजह से ही वह मर गया।"

चार्ल्स ने अपने सुसाइड नोट में लिखा है कि उसे दुनिया के सबसे अच्छे माता-पिता मिले, दोस्तों की भी तारीफ की है और साथ ही यह भी लिखा है कि वे उसे याद न करें, वह याद किये जाने लायक नहीं है। उसके खराब नंबर आ सकते हैं। वह फेल हो सकता है। और इस दुनिया में फेलियर का कोई भविष्य नहीं है। अंत में लिखा है कि "माँफ कीजिएगा, मैं एक तरह का अपशिष्ट बन गया हूँ।"

चार्ल्स आत्महत्या करने वाला कोई पहला छात्र नहीं है, न ही अंतिम। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के हिसाब से हमारे देश में हर घंटे में कोई न कोई छात्र आत्महत्या कर लेता है। दशक के हिसाब से देखें तो ये आँकड़े लगातार बढ़ रहे हैं।

आत्महत्या करने वाले छात्र अपने पत्रों के साथ-साथ बहुत सारे सवाल छोड़कर जाते हैं। भले ही आत्महत्या करने वाले छात्रों की संख्या आतंकवाद से होने वाली मौतों से सौ गुने से भी ज्यादा है पर मीडिया, सरकार और सामाजिक विश्लेषकों का ध्यान इस तरफ आतंकवाद पर ध्यान के मुकाबले सौवां हिस्सा भी नहीं है। जिसने आत्महत्या की उसे कायर, समस्याओं को न झेल पाने वाला, डिफरेंट सिचुएशन को हैंडल न करने वाला कहकर सब पीछा छुड़ा लेते हैं। यह ठीक बात है कि पिछली लाईन में गिनाये गए सारे पहलू आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के अंदर किसी न किसी अनुपात में मिलते हैं। इसके अलावा और बाहरी कारण क्या हैं जो किसी व्यक्ति के इन अवगुणों को बढ़ाने में सहायक हैं? कैसे ये अवगुण उसका सारा ध्यान आत्महत्या की तरफ केंद्रित कर देते हैं? क्यों उसके जीवन में ऐसी कोई वजह नहीं होती जिसके लिए वह जिन्दगी का स्वागत करे? क्यों कोई छात्र अच्छे मार्क्स लाना या बड़ी कंपनी में काम करना ही जिन्दगी की सफलता मानता है?

जब हम इन सवालों की गहराई से जाँच-पड़ताल करेंगे तो हमारे सामने आत्महत्याओं के पीछे के ठोस कारण आ सकते हैं। हम एक-एक करके सारे मनोभावों की जाँच-पड़ताल कर सकते हैं। उनका समाज से रिश्ता देख सकते हैं। हमारे दिमाग का कोई भी भाव हो, चाहे सकारात्मक चाहे नकारात्मक, उसका आधार कहीं न कहीं समाज में जरूर होता है। पर इन सवालों के सही जवाब और समाधान के लिए सामूहिक तौर पर पूरे देश के प्रयास न के बराबर हैं। जब यह समस्या सामाजिक है तो समाधान भी सामाजिक होना चाहिए।

जब चार्ल्स के दिमाग में आया कि वह अपशिष्ट बन गया है। एक तरह से कूड़ा, कचरे के ढेर में फेंकने लायक। वह फेल हो सकता है। तो वह किन मनोभाव से गुजर रहा होगा? उसके आस-पास जो दुनिया है उसमें वह कहीं फिट नहीं बैठेगा। कम नंबर आएंगे तो कहीं नौकरी नहीं मिलेगी। स्कॉलरशिप तो वैसे भी पाँच महीने से रुकी हुई है। उसके लिए अब इस संसार में कोई जगह है ही नहीं। वह किसी के लायक नहीं है।

अगर हम इन मनोभावों को समाज की भौतिक परिस्तिथियों से जोड़कर देखें तो मामला काफी हद तक साफ हो जायेगा। आज देश में बेरोजगारी अपने चरम पर है। धर्म, क्षेत्र और जाति के नाम पर भेदभाव दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है। विज्ञान और तर्क की रौशनी परदे के पीछे है। धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास के काले बादल सभी दिशाओं में मंडरा रहे हैं। कॉलेज-यूनिवर्सिटियाँ सालों तक छात्रों को घेरे रहती हैं। शिक्षण संस्थान समाज की कड़वी सच्चाई को समझाने के बजाय बाहरी दुनिया की बेहद खूबसूरत तस्वीर पेश करते हैं। आठवीं-नौवीं कक्षा से ही आईआईटी की तैयारी में लगने वाले नन्हे-नन्हे नौनिहाल अपने बचपन को दाँव पर लगाते हैं। स्कूल कहता है कि हमारे यहाँ आओ हम सर्वांगीण विकास करेंगे। कोचिंग सर्वांगीण विकास से एक कदम आगे बढ़कर सुनहरे भविष्य का दावा करती हैं। घर वाले स्कूल में अच्छे नंबर का मतलब ज्यादा रुपये

शेष पृष्ठ 30 पर...

महाराष्ट्र में चार सालों में 12 हजार से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की

महाराष्ट्र के सहकारिता एवं पुनर्वास मंत्री ने विधानसभा में बताया कि साल 2015 से 2018 के दौरान 12,021 किसानों ने आत्महत्या की, जिनमें से 6,888 किसान सरकारी मदद पाने के योग्य थे।

अब तक 6,845 किसानों के परिवारों को एक-एक लाख रुपये की आर्थिक सहायता दी गयी।

मंत्री ने कहा, "सरकार किसानों के लिए कर्ज माफी का वादा निभाएगी। कर्ज माफी योजना से अब तक 50 लाख किसान लाभान्वित हो चुके हैं। मैं किसानों को विश्वास दिलाता हूँ कि सरकार उनके साथ है। मैं किसानों से अपील करता हूँ कि वे आत्महत्या नहीं करें।"

देश में पिछले कई सालों में महाराष्ट्र के किसानों द्वारा सबसे ज्यादा आत्महत्या की गयी हैं। राज्य में बढ़ती किसान आत्महत्याओं का कारण कर्ज का बढ़ता बोझ, फसल खराब होना, सूखे की मार और सिंचाई के लिए पानी की कमी है।

महाराष्ट्र की देवेन्द्र फडणवीस सरकार ने दो दिन पहले अपने बजट में किसान कर्ज माफी योजना का दायरा बढ़ाने का ऐलान किया। सरकार ने भी बताया कि इस कदम से सरकार पर करीब 8 हजार करोड़ रुपये का भार पड़ेगा। लेकिन महाराष्ट्र में किसान कर्ज माफी की पोल उस वक्त खुल गयी, जब एक किसान कर्ज माफी का प्रमाण पत्र लेकर सरकार को कर्ज माफ करने की याद दिलाने विधानसभा पहुँच गया। महाराष्ट्र के वासिम जिले के किसान अशोक मनवर शुक्रवार को हाथ में किसान कर्ज माफी का प्रमाण पत्र लेकर विधानसभा पहुँचे। वह सरकार को बताने आये थे कि उन्हें किसान कर्ज माफी का प्रमाण पत्र तो दिया गया लेकिन कर्जा माफ नहीं हुआ। लेकिन सरकार तक उनकी आवाज पहुँचती इससे पहले ही उन्हें हिरासत में ले लिया गया।

दरअसल, 2017 में दिवाली से पहले मुख्यमंत्री देवेन्द्र फडणवीस ने मुम्बई में कई किसानों को कर्ज माफी के प्रमाण पत्र बाँटे थे। इनमें से एक अशोक भी थे। अशोक का 1 लाख 40 हजार रुपये माफ करने का ऐलान हुआ था लेकिन उनका कर्ज अब तक माफ नहीं हो सका है।

ये बात किसी से छिपी नहीं है कि महाराष्ट्र में पिछले सालों में औसत से कम बारिश हुई है जिसकी वजह से कई लाख हेक्टेयर किसानों की फसल बर्बाद हो चुकी है। खेती-किसानी के लिए किसान बैंकों से कर्ज लेता है लेकिन सूखे की वजह से किसानों को बड़ा नुकसान उठाना पड़ता है।

(द वायर स्टाफ)

नीरव मोदी-- नो कमेंट्स, नो कमेंट्स।

नीरव मोदी आज भी हम भारतीयों की यादों में है। वो उसका नूरानी चेहरा, लन्दन की गलियों में एक पत्रकार के हर सवाल के जवाब में उसका कहना- नो कमेंट्स, नो कमेंट्स। हीरे जवाहरात का ये व्यौपारी पीएनबी घोटाले के लिए दुनियाभर में चर्चित है। प्रधानमंत्री के भ्रष्टाचार मुक्त भारत के दावे की खिल्ली उड़ाता यह व्यौपारी उनकी नाक के नीचे से देश को हजारों करोड़ का चूना लगाकर विदेश निकल गया था। वहाँ भी माथे पर बिना किसी शिकन के वह घूम रहा है। भारत सरकार भी उसकी वापिसी में कोई खास दिलचस्पी नहीं ले रही। इस घटना पर उद्धव ठाकरे की पार्टी और बीजेपी की सहयोगी शिव सेना ने बड़ा गम्भीर आरोप लगाया है। उसने कहा, "जनवरी में नीरव मोदी ने देश छोड़ा। जबकि इससे कुछ ही हफ्ते पहले वह डावोस में वर्ल्ड इकनोमिक फोरम की बैठक में प्रधानमंत्री के साथ देखा गया था। नीरव मोदी बीजेपी का पार्टनर रह चुका है और बीजेपी के लिए चन्दा देने में अग्रणी रहा है। जबकि सरकार हमेशा सफाई देती रही है कि नहीं, हमारा कोई गहरा रिश्ता नहीं है। प्रधानमंत्री के साथ मीटिंग में नीरव मोदी का होना तो महज इत्तेफाक था। अब सोचने की बात यह है कि यदि शिव सेना को लगता है कि नीरव को भगाने में बीजेपी का हाथ है तो बीजेपी को अपना समर्थन क्यों देती है? दूसरी बात कि यदि बीजेपी को लगता है कि शिव सेना ने उस पर झूठा आरोप लगाया है तो शिव सेना का साथ क्यों नहीं छोड़ती? या फिर सत्ता की मलाई लूटने के लिए दोनों में गठजोड़ है। यदि ऐसा है तो यह एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर और झूठ-मूठ का विरोध करके सत्ता का सुख भोगने का नायाब उदाहरण है।

अब भूल जाइये रेलवे की नौकरियों को!

अब भूल जाइये रेलवे की नौकरियों को! रेलवे में केन्द्र सरकार की अब कोई नयी नियुक्ति नहीं निकलने वाली! रेलवे की नौकरियों में आरक्षण का प्रश्न भी एक झटके में साफ हो जाएगा क्योंकि न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी। मोदी सरकार भारतीय रेलवे को निगमीकरण की पटरियों पर दौड़ाने वाली है जिसका आखिरी स्टेशन निजीकरण है।

निगमीकरण का मतलब है-- किसी संस्था को निगम का रूप देना। सरकारी नियंत्रण के तहत उसके कार्यों को धीरे-धीरे निजी संस्थानों को सौंपते जाना ताकि आगे चलकर जब वह निगम लाभ बनाने लगेगा तो उसे किसी निजी बोलीदाता को बेचा जा सकेगा।

आप कहेंगे कि रेलवे में यह निगमीकरण शब्द कहाँ से आया? दरअसल, जितना हम रेलवे को देखते हैं वह उससे कहीं बड़ा संस्थान है। हमें सिर्फ दौड़ती-भागती ट्रेनें दिखायी देती हैं लेकिन सुचारू ढंग से यह ट्रेनें दौड़ती रहें, इसके लिए बड़े-बड़े कारखाने हैं, वर्कशॉप हैं, मेंटनेंस की वृहद व्यवस्था है।

मोदी सरकार के दुबारा आते ही इन सारी व्यवस्थाओं को जो कई सालों से काम करती आयी हैं, उन्हें हिला डाला है। दरअसल रेल मंत्रालय ने 100 दिन का एक एक्शन प्लान तैयार किया है। इस प्लान के तहत रेलवे बोर्ड ने एक आदेश जारी कर कहा है कि

चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स आसनसोल
इंटीग्रल कोच फैक्ट्री चेन्नई
डीजल रेल इंजन कारखाना वाराणसी
डीजल माडर्नाइजेशन वर्क्स पटियाला
ह्वील एंड एक्सल प्लांट बेंगलुरु
रेल कोच फैक्ट्री कपूरथला
माडर्न कोच फैक्ट्री रायबरेली

सहित कुछ अन्य उत्पादक इकाइयाँ अब प्राइवेट कम्पनी की तरह काम करेंगी। इस आदेश से यहाँ तैनात सभी रेल कर्मचारी सरकारी सेवा में न होकर निजी कम्पनी के कर्मचारी बन जाएँगे। यही नहीं, अब यहाँ भारतीय रेल के महाप्रबन्धक की जगह प्राइवेट कम्पनी के सीएमडी बैठेंगे।

रेलवे बोर्ड ने अगले 100 दिन के एक्शन प्लान में अपनी सभी उत्पादक इकाइयों को एक कम्पनी के अधीन करने का प्रस्ताव दिया है। प्रस्ताव के मुताबिक सभी उत्पादक इकाइयाँ व्यक्तिगत लाभ केन्द्र के रूप में काम करेंगी और भारतीय रेलवे की नयी इकाई के सीएमडी को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करेंगी। इस तरह से रेलवे बोर्ड ने इन सात उत्पादक इकाइयों को भारतीय रेलवे की नयी इकाई इंडियन रेलवे रोलिंग स्टॉक (रेल के डिब्बे एवं इंजन) कम्पनी के अधीन लाने का फैसला कर लिया है।

अभी तक इन उत्पादक इकाइयों के सभी कर्मचारी भारतीय रेलवे के कर्मचारी माने जाते हैं। इन पर रेल सेवा अधिनियम लागू होता है। इन सभी कर्मचारियों को केन्द्रीय कर्मचारी माना जाता है। उत्पादक इकाइयों का सर्वेसर्वा जीएम (महाप्रबन्धक) होता है और रेलवे बोर्ड के चेयरमैन को जीएम रिपोर्ट करता है।

लेकिन निगमीकरण के बाद जीएम की जगह सीईओ की तैनाती होगी, वह सीएमडी को रिपोर्ट करेगा। ग्रुप सी और डी का कोई भी कर्मचारी भारतीय रेलवे का हिस्सा नहीं होगा बल्कि वह निगम के कर्मचारी कहलाएँगे। उन पर रेल सेवा अधिनियम लागू नहीं होगा बल्कि रेल निगम जो नियम बनायेगा वह लागू होगा। कर्मचारियों के लिए अलग से पे-कमीशन आएगा। ठेके (कान्ट्रैक्ट) पर काम होगा। इन कर्मचारियों को केन्द्रीय सरकार की सुविधाएँ नहीं मिलेंगी। सेवा शर्तें भी बदल जाएँगी। नये आने वाले कर्मचारियों के लिए पे-स्केल और पे-स्ट्रक्चर भी बदल जाएगा।

साफ दिख रहा है कि जल्द ही रेलवे को भी बीएसएनएल की तर्ज पर निगम बनाने की केन्द्र सरकार की मंशा है। कहीं कुछ सालों बाद वेतन बाँटने को मोहताज बीएसएनएल की हालत में रेलवे भी न आ जाए! बीएसएनएल पिछले दिनों अपने कर्मचारियों को तनख्वाह नहीं दे पाने के लिए चर्चा में रहा है। आपको ध्यान देना चाहिए कि केन्द्र सरकार के दूरसंचार विभाग को निगम का रूप देकर बीएसएनएल बनाया गया था लेकिन वहाँ तो सिर्फ एक लाख 70 हजार कर्मचारियों का प्रश्न था। यहाँ रेलवे में तो उससे दस गुना यानी 17 लाख कर्मचारी काम करते हैं।

पहले ही निजीकरण के कार्यक्रम के परिणाम स्वरूप अब तक भारतीय रेल में लाखों नौकरियाँ खत्म की जा चुकी हैं। अगर निगमीकरण के रास्ते पर आगे बढ़ा गया तो रेलवे में नौकरी तो मिलेगी लेकिन उसे सरकार नहीं देगी, ठेकेदार देंगे।

(गिरीश मालवीय की फेसबुक वॉल से)

सत्ता-सुख भोगने की कला

तेलगु देशम पार्टी के चार सांसद वीईएस चौधरी, सीएम रमेश, जी मोहन राव, और टीजी वेंकटेश भाजपा में शामिल हो गये।

अब इसे आप अवसरवाद कहिए या सीबीआई का डर या सत्ता सुख भोगने की कला। कल तक जिन्हें आंध्रा का माल्या कहा जाता था अब वे देशभक्त हैं!

बहुत पुरानी नहीं, केवल एक साल पहले की बात है जब भाजपा सांसद और प्रवक्ता जीवीएल नरसिम्हा राव ने सीएम रमेश और वाईएस चौधरी को 'आंध्रा का माल्या' कहा था और राज्यसभा की आचार समिति को पत्र लिखकर उनके खिलाफ उपयुक्त कार्रवाई शुरू करने की माँग की थी। सच्चाई तो यह है कि सीबीआई निदेशक आलोक वर्मा और विशेष निदेशक राकेश अस्थाना में उठापटक के समय रमेश का नाम भी उछला था। रमेश से जुड़ी एक कम्पनी को लेकर इनकम टैक्स विभाग जाँच कर रहा है। दूसरी तरफ वाईऐस चौधरी एक कथित बैंक लोन धोखाधड़ी मामले में सीबीआई और ईडी के रडार पर हैं।

ये सांसद के साथ-साथ उद्योगपति भी हैं। कितना खुशनशीब होता होगा न, सांसद के साथ उद्योगपति होना। संसद में बैठकर अपने लिए नियम बनाना।

इंडियन एक्सप्रेस के मुताबिक 28 नवम्बर को आचार समिति को लिखे पत्र को पोस्ट करते हुए राव ने ट्वीट किया, "मैंने दो तेदेपा सांसदों वाईएस चौधरी और सीएम रमेश की अयोग्यता के लिए आचार समिति से शिकायत की, जिन्होंने बड़े पैमाने पर वित्तीय घोटालों के साथ 'आंध्रा का माल्या' की संदिग्ध उपाधि हासिल की है।"

द वायर ने लिखा है कि "तेदेपा द्वारा पिछली बार मोदी सरकार से समर्थन वापस लेने से पहले केन्द्र में राज्य मंत्री रहे चौधरी के खिलाफ सीबीआई तीन एफआईआर पर जाँच कर रही है। इन एफआईआर में आरोप लगाया गया है कि विद्युत उपकरण निर्माता 'बेस्ट एंड क्रॉम्पटन इंजीनियरिंग प्रोजेक्ट्स लिमिटेड (बीसीईपीएल) ने धोखाधड़ी करके बैंकों के एक कंसोर्टियम से 360 करोड़ रुपये से अधिक का कर्ज लिया और फिर इसे डिफॉल्ट कर दिया। सीबीआई का दावा है कि ये कम्पनी चौधरी से जुड़ी हुई है। सीबीआई की एफआईआर के आधार पर, ईडी ने चौधरी के खिलाफ मनी लॉन्ड्रिंग की जाँच शुरू की और उनकी 315 करोड़ रुपये से अधिक की सम्पत्ति जब्त की। जब्त की गयी सम्पत्तियों में महँगी गाड़ियाँ हैं जिनमें फेरारी, एक बीएमडब्ल्यू और एक रेंज रोवर भी शामिल है।"

जिन नेता, सांसद और अधिकारियों के हाथ में हम देश को सुरक्षित समझते हैं या विश्व गुरु बनने का भ्रम पालकर रखते हैं, वास्तव में वे देश के खनिज संसाधनों की, मानव संसाधनों की हो रही चौतरफा लूट के हिमायती हैं, सच्चे सहयोगी हैं, एक दूसरे से नालिबद्ध हैं। असलियत खुलने से सारे डरते हैं इसलिए एक दूसरे को पूरी ताकत से बचाते हैं और सत्ता सुख भोगने की कला में माहिर हैं।

ये कैसी दोस्ती कैसा प्यार!

ट्रम्प ने भारत को जीएसपी (तरजीह की सामान्य व्यवस्था) के तहत अमरीका से व्यापार में मिलने वाली तवज्जो को खत्म कर दिया है।

जीएसपी के तहत करीब 2000 तरह के सामान बिना टैक्स के एक देश से दूसरे देश भेजे जा सकते हैं। तरजीह की सामान्य व्यवस्था को अमरीका विकासशील देशों में अपना व्यापारिक दबदबा बनाने के लिए लम्बे समय से इस्तेमाल करता रहा है।

भारत को इस तरजीह से बाहर करने की ट्रम्प ने वजह बतायी है कि भारत अमरीका के मालों के लिए बाजार में जगह नहीं बढ़ा रहा है।

भारत ने 2017 मे जीएसपी के तहत सबसे ज्यादा 5.17 अरब डॉलर का मुनाफा कमाया था।

अब इससे बाहर होने पर भारत और अमरीकी व्यापारिक रिश्ते खराब होंगे। इसके लिए अमरीकी व्यापारी भी चिंतित हैं, पर भारत के लिए यह जानलेवा होगा। यह चोट लंगड़ा कर चल रही भारतीय अर्थव्यवस्था की कमर पर एक जोरदार घूँसा का काम करेगी। लेकिन ऐसा होने से पहले ही सरकार अमरीकी धौंसपट्टी से समझौता कर लेगी।

भारत के एक बड़े हिस्से में मर्दवादी विचार हावी

(एजाज अशरफ द्वारा आशीष नन्दी का साक्षात्कार)

एजाज अशरफ : आप एक राजनीतिक मनोविश्लेषक हैं। इस लिहाज से 2019 के चुनावों में बीजेपी की बड़ी जीत को आप कैसे समझते हैं?

आशीष नन्दी : जिस तरह का काम इन लोगों ने 5 सालों में किया था उससे मुझे उम्मीद नहीं थी कि बीजेपी को इतनी बड़ी जीत हासिल होगी। मुझे लगता है कि इन लोगों ने आक्रामक शैली में प्रचार अभियान चलाया जिसके बूते यह जीत हासिल हुई। इन पाँच सालों में इनके सामने केवल चुनाव था और सारे काम इसे ही ध्यान में रख कर किये गये। इस वजह से इनके पास कुछ और करने का वक्त ही नहीं था। बीजेपी के चुनाव अभियान का एक जरूरी भाग मोदी को भारत का तारणहार दिखाना था।

एजाज अशरफ : क्या हम इस जीत को बदलते भारत की छाया की तरह देख सकते हैं?

आशीष नन्दी : मेरे लिए यह शर्म की बात है कि बीजेपी का चुनाव प्रचार और उसकी जीत हिन्दुत्व विचारक विनायक दामोदर सावरकर से उधार लिये गये राज्य के सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सोच पर लम्बे समय से हावी रहा है।

एजाज अशरफ : सावरकर की राज्य की अवधारणा क्या थी?

आशीष नन्दी : सावरकर की राज्य की कल्पना अत्यंत मर्दवादी थी। राष्ट्रवाद सहित सभी चीजें इस मर्दवादी राज्य के मातहत आती हैं। आप इसे राज्यवाद कह सकते हैं। इसका मतलब है कि आपके और मेरे जीवन में राज्य की भूमिका केन्द्रीय होगी।

2019 के चुनाव परिणाम से हम जान सकते हैं कि भारत के एक बड़े हिस्से में मर्दवादी विचार हावी हो गया है जो राष्ट्रवाद और देशप्रेम तथा हिन्दू राष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद में अन्तर नहीं कर पाता।

एजाज अशरफ : मर्दवादी राज्य के लक्षण या चरित्र क्या हैं?

आशीष नन्दी : यह साहस का पौरुषिकरण, अधिकार का पौरुषिकरण और राष्ट्र की पहचान का पौरुषिकरण करना है। बीजेपी की बात करें तो इसने कई मर्तबा इससे किनारा भी किया है। उदाहरण के लिए जब मोदी गुजरात के मुख्यमंत्री थे तो वह कहा करते थे कि वह सब को साथ लेकर चलते हैं।

एजाज अशरफ : आपने देशप्रेम और राष्ट्रवाद के अन्तर पर बहुत लिखा है। क्या आप हमें इस अन्तर के बारे में बता सकते हैं?

आशीष नन्दी : देशप्रेम का मतलब प्रादेशिकता या क्षेत्रियता है जो मानव जाति का नैसर्गिक गुण है। इस तरह की प्रादेशिकता सभी जीवों में पायी जाती है। यहाँ तक कि कुत्ते और बिल्लियों में भी। दूसरे शब्दों में, देशप्रेम मानव जाति के लिए प्राकृतिक चीज है। लेकिन राज्यवाद का विचार देशप्रेम को पर्याप्त नहीं मानता।

एजाज अशरफ : क्या इसका सम्बन्ध नेशन-स्टेट (राज्य) के विकास-क्रम से जुड़ा है?

आशीष नन्दी : यूरोप में राजतंत्र के खत्म हो जाने के बाद नेशन-स्टेट का उद्‌भव हुआ। राजा के पास दैवीय अधिकार थे। हालाँकि सम्भ्रांत (एलीट) वर्ग खुद इस पर विश्वास नहीं करता था। लेकिन वह यह जरूर मानता था कि राजा एक प्रतीक है जो राज्य में रहने वाले विभिन्न समुदायों को साथ रखता है। सम्भ्रांत लोगों को डर था कि यदि राजतंत्र नहीं रहेगा तो यूरोप की सर्वसाधारण जनता राज्य के प्रति वफादार नहीं रहेगी। विभिन्न समुदायों को एक साथ रखने के लिए राष्ट्रवाद का प्रचार यूरोप के समाजों में किया गया।

हालाँकि यूरोप का सम्भ्रांत स्वयं राष्ट्रवादी नहीं था। राज परिवारों की शादियाँ बाहर नहीं की जा सकती थीं इसलिए उन लोगों ने दूसरे राष्ट्रों के राज घरानों में ब्याह रचाया। जिन्होंने दूसरे राष्ट्रों के राजघरानों में शादियाँ कीं उन लोगों ने उन्हीं राष्ट्रों की राष्ट्रीयता ग्रहण कर ली।

आम जनता के लिए राज्य एक नया खुदा बन गया। इसका मतलब है कि राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राज्य एक साथ घटित होने वाली परिघटनाएँ हैं। ठीक इसी तरह का प्रचार आज भारत में हो रहा है।

एजाज अशरफ : भारत में राष्ट्रवादी प्रचार हावी क्यों हो रहा है?

आशीष नन्दी : यह इसलिए हो रहा है क्योंकि इन लोगों ने देशप्रेम और राष्ट्रवाद के बीच की रेखा धुँधली कर दी है। हर भारतीय जन्म से ही देशप्रेमी होता है। इसके बरअक्स राष्ट्रवाद राज्य के प्रति वफादारी का भरा गया (निर्मित) भाव है। अधिकांश लोग राष्ट्रवाद और देशप्रेम के बीच अन्तर नहीं कर पाते। भारत में ये दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। बीजेपी लगातार देशद्रोह की बात करती है और उसका लक्ष्य राष्ट्रवाद और देशप्रेम के बीच के अन्तर को धुँधला कर देना है।

एजाज अशरफ : इसके पीछे बीजेपी की मंशा क्या है?

आशीष नन्दी : इसके पीछे हर तरह के विपक्ष को राष्ट्रद्रोही ब्रांड करना है।

एजाज अशरफ : इस अन्तर को मिटा देने के बीजेपी के प्रयास का लोगों में क्या असर हुआ है?

आशीष नन्दी : भारतीय लोग अपनी स्वतंत्रता, भारतीयता के विचार और नेशन-स्टेट का सम्मान करते हैं। लेकिन इस बारे में उनका विचार बहुत अलग किस्म का है। उन्हें एकतरफा सन्देश दिया जा रहा है। इसलिए लोग देश की बदलती राजनीति को समझने में नाकाम हैं। भारतीय लोगों के भीतर टीवी को लेकर एक तरह का विश्वास है जो 50 साल पहले अमरीका के लोगों का था। आलोचनात्मक दृष्टि पैदा नहीं हुई है या यूँ कहें कि उसे पैदा होने नहीं दिया गया।

एजाज अशरफ : क्या आपको लगता है कि पंजाब और कश्मीर में जिस तरह के आक्रामक आन्दोलन चले, उसकी वजह से उत्पन्न बेचैनी के कारण भारतीय लोग बीजेपी के विचार को स्वीकार करते हैं?

आशीष नन्दी : हिंसक आन्दोलन से अधिक मुझे लगता है जनता हर तरह की हिंसा को लेकर बेचैन है।

एजाज अशरफ : लेकिन हिंसा ने बेचैन तो किया ही है।

आशीष नन्दी : यह सही है। इस बेचैनी की वजह से लोगों को लगता है कि एक केन्द्रीकृत राज्य, शान्ति व्यवस्था बहाल कर देगा। ब्रिटिश शासन के तहत भारतीयों की पहली पीढ़ी भी यही समझती थी। बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, जो बंगाल के डिप्टी मजिस्ट्रेट थे, वह भी मानते थे कि मुगल शासन के अंतिम दिनों में जिस तरह की अराजकता थी उसका समाधान ब्रिटिश शासन है। यह वह समय था जब मराठा शक्तिशाली थे। उनकी लूटने वाली संस्कृति थी। यहाँ तक कि 1857 के विद्रोह के समय ब्रिटिश सत्ता की जीत के लिए कोलकाता में लोगों ने पूजा-अर्चना की थी।

एजाज अशरफ : क्या 2019 के चुनाव परिणाम को हिंसा और असुरक्षा की प्रतिक्रिया के रूप में समझना चाहिए?

आशीष नन्दी : 2019 का चुनाव परिणाम आरएसएस द्वारा सावरकर की विचारधारा को फैलाये जाने का परिणाम है। वह यूरोप जैसा नेशन-स्टेट चाहता है। सावरकर ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि हिन्दुत्व का मतलब हिन्दू धर्म नहीं है। लेकिन चुनावों के लिए इस अन्तर को मिटा दिया गया। सावरकर नास्तिक था। उसने अपनी पत्नी का रीति सम्मत अंतिम संस्कार भी नहीं किया। यहाँ तक कि उसका स्वयं का अंतिम संस्कार धार्मिक तरीके से नहीं हुआ।

कुछ साल पहले सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटीज ने एक सर्वे किया था जिसमें मैंने पहली बार सावरकर के विचार के सफल होने के लक्षण देखे थे। उस सर्वे में पाया गया था कि भारत के तमाम राज्यों में हिन्दू धर्म के प्रति समर्पण का हिन्दुत्व को मिल रहे समर्थन से सम्बन्ध नहीं है। इसका अपवाद सिर्फ गुजरात था।

अर्थशास्त्री प्रणब बर्धन ने इसे बहुत खूबसूरती से बयान किया है। उन्होंने कहा है कि प्रधानमंत्री के रूप में मोदी के पहले पाँच सालों में गुजरात का विकास मॉडल गुजरात से बाहर नहीं फैल पाया और जल्द इसके फैलने का कोई लक्षण दिखायी नहीं देता। लेकिन नफरत का गुजराती मॉडल पिछले पाँच सालों में पूरे भारत में फैल गया है।

एजाज अशरफ : क्या हम गुजरात के अनुभव से भारत को समझ सकते हैं?

आशीष नन्दी : 1961 में मैं पहली बार मनोविश्लेषण क्लीनिक के लिए गुजरात गया। उस वक्त मैंने पाया कि गुजराती लोग मुसलमानों को अलग समुदाय नहीं समझते थे। वे लोग जब भी मुसलमानों की बात करते थे उनके दिमाग में उत्तर प्रदेश और बिहार से कपड़ा मिलों में काम करने के लिए आने वाले मुसलमान होते थे। जब मैं वहाँ के मुसलमानों की बात करता तो कोई गुजराती मुझे समझाने लगता कि नहीं वह मेमोन या बोहरा है। गुजराती मुसलमानों को उनके धर्म से नहीं बल्कि उनकी पंथ से पहचाना जाता था। लेकिन आज वहाँ मुस्लिमों की एक अलग पहचान है।

बहुत लम्बे समय तक मुझे लग रहा था की जाति हिन्दुत्व का जवाब है। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

एजाज अशरफ : इसका मतलब है कि भारतीय मनोविज्ञान में फंडामेंटल या आधारभूत बदलाव आ चुका है।

आशीष नन्दी : हाँ, बदलाव जरूर आया है लेकिन आप उसे आधारभूत बदलाव नहीं कह सकते। एक बदलाव यह आया है कि देशप्रेम और राष्ट्रवाद का अन्तर मिट गया है। दूसरा बदलाव

यह है कि उन्हें लगता है कि एक मजबूत केन्द्रीकृत राज्य, हिंसा से ग्रस्त समाज में सन्तुलन बनाने के लिए जरूरी है। यह विचार अभी बढ़ रहा है। इस सन्दर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण कारक यह है कि लोगों को विस्थापित होना पड़ा। यह विस्थापन विकास परियोजनाओं के कारण हो रहा है। क्या हमें इतने सारे बड़े बाँधों की आवश्यकता थी?

एजाज अशरफ : तो क्या एलीट वर्ग ने नीचे पैदा होने वाले दबाव को नियंत्रित करने के लिए एक मजबूत राज्य का विकल्प चुना है?

आशीष नन्दी : आप कह सकते हैं कि कारोबारी एलीट ने विकास के अपने मॉडल के लिए मजबूत राज्य का विकल्प चुना है। मध्यमवर्ग के बड़े हिस्से ने इस विचार को ग्रहण कर लिया है। इस मॉडल में अन्तर्निहत खतरे हैं। मेरी किताब "द इललेजिटिमेसी ऑफ नेशनलिज्म - रविन्द्रनाथ टैगोर एंड पॉलिटिक्स ऑफ सेल्फ" का चीन में तीसरा अनुवाद हुआ है। इस बार पीपल्स पब्लिशिंग हाउस ने इसका अनुवाद किया है जिसका मतलब है कि यह राज्य प्रायोजित अनुवाद है। मेरा मानना है कि चीन का सम्भ्रांत वर्ग खुद के फैलाए राष्ट्रवाद से डरा हुआ है। वे लोग अब राष्ट्रवाद को पूँजी नहीं मानते। ऐसा इसलिए है कि वे स्वयं इसके शिकार हो गये हैं। चीन की जनता चाहती है कि चीन सैन्य शक्ति के दम पर दक्षिण चीन सागर को हासिल कर ले।

एक बार राष्ट्रवाद को ढीला छोड़ दिया गया तो ऐसी स्थिति का पैदा हो जाना बहुत आसान है जो 1930 के यूरोप में थी। बड़े पैमाने पर हत्याएँ होने से पहले न्यायपालिका और शिक्षा व्यवस्था को व्यवस्थित और कमजोर कर दिया गया था। इसके बाद किताब जलाये जाने जैसी परिघटना सामने आयी।

एजाज अशरफ : आज जो भारत में हालात हैं क्या आप उससे चिंतित हैं?

आशीष नन्दी : जी बिल्कुल। भारत दुनिया की लिंचिंग राजधानी बन गया है। 1950 तक यह दर्जा अमरीका को प्राप्त था।

एजाज अशरफ : क्या आप इसलिए भी चिंतित हैं क्योंकि आपको लगता है कि यह सरकार की मिलीभगत से हो रहा है?

आशीष नन्दी : हाँ, ऐसा ही पाकिस्तान में भी है।

एजाज अशरफ : क्या हम पाकिस्तान जैसा बन रहे हैं?

आशीष नन्दी : हम पाकिस्तान की तरह देखने लगे हैं। हमारी सेना उसकी सेना की तरह ही राज्य की भाषा बोल रही है और मुझे शक है कि निचली न्यायपालिका का अधिकांश हिस्सा यही कर रहा है।

आप को समझना चाहिए कि भारत में यह काम इसलिए हो पाया है क्योंकि बीजेपी-आरएसएस ने संस्थाओं में अपने लोग घुसा दिये हैं। आप किसी को सरकारी नौकरी देते हैं तो वह आपका वफादार बन जाता है। अगर बीजेपी अगला चुनाव या 2029 का चुनाव हार भी जाती है तो ऐसे लोग वहाँ (संस्थाओं में) बने रहेंगे।

मोदी सरकार ने जो किया है उसकी कीमत भारत की एक पीढ़ी को चुकानी पड़ेगी। हम यूरोप के नेशन-स्टेट से जुड़ी खामियों के साथ वैसा ही नेशन-स्टेट बनते जाएँगे। हमारा देश विविधता वाला समाज है जिससे आरएसएस-बीजेपी के लोगों को डर लगता है।

एजाज अशरफ : विविधता से संघ इतना भयभीत क्यों रहता है?

आशीष नन्दी : उनके डर से ही हमें पता चलता है कि न वह हिन्दू हैं और न भारतीय। इसने नेशन-स्टेट का अपना मॉडल यूरोप से जस का तस चुराया है। यही सावरकर चाहता था।

एजाज अशरफ : 2019 में बीजेपी की जीत का सेहरा मोदी को दिया गया। उनके व्यक्तित्व की वह खास बात क्या है जो लोगों को आकर्षित करती है? क्या आपको लगता है कि उनकी आक्रामकता, बदलते भारतीय मनोविज्ञान को आकर्षित करती है?

आशीष नन्दी : यह सही है। लोगों को उनके गरीब परिवार से आने और सफल होने की कहानी आकर्षित करती है। लोगों को लगता है कि प्रधानमंत्री ने कोई गलती की भी है तो यदि वह उनको झेलते रहेंगे तो लम्बे समय में उन्हें लाभ मिलेगा। इस भाष्य को गढ़ने में मीडिया की बड़ी भूमिका है और इस चुनाव को राष्ट्रपति चुनाव जैसा बना दिया गया।

एजाज अशरफ : क्या प्रेम की भाषा लोग पसन्द नहीं करते?

आशीष नन्दी : यह मत भूलिए कि हमारे सामने कोई ऐसा बड़ा व्यक्तित्व नहीं है जो प्रेम की भाषा को विश्वसनीय बना सके। जयप्रकाश नारायण ने इसका प्रयास किया था और वे सफल रहे थे। जो व्यक्ति प्रेम के प्रति लोगों में विश्वास जगाना चाहता है उसके जीवन में बलिदान (खो देने) का गुण होना चाहिए।

एजाज अशरफ : मीडिया ने मोदी की जो छवि पेश की उसके बारे में आपका क्या कहना है?

आशीष नन्दी : नेताओं की छवि बनाने में मीडिया की बड़ी भूमिका न सिर्फ भारत में बल्कि अन्य देशों में भी है। इसलिए एक ही वक्त में हमारे सामने भारत में मोदी, तुर्की में रजब तैयब इरदुगान, फिलीपींस में रोड्रिगो दुतेर्ते और अमरीका में डोनाल्ड ट्रम्प हैं।

एजाज अशरफ : क्या आपको लगता है कि यह लोग मीडिया का इस्तेमाल लोगों के दिमाग पर कब्जा करने के लिए करते हैं?

आशीष नन्दी : हाँ। मैं भारतीयता के विचार पर एक किताब का सम्पादन कर रहा हूँ। मुझे पता है कि यदि इस किताब का अनुवाद भारत की सभी भाषाओं में हो जाये तो इसे बहुत पढ़ा नहीं जाएगा। भारतीयता के विचार को जनता की चेतना में समाने में बहुत लम्बा समय लगेगा क्योंकि जनता को गलत किताबों से अन्य तरह का विचार दिया जा रहा है।

एजाज अशरफ : क्या भारतीयता की अवधारणा बदल गयी है?

आशीष नन्दी : मध्यम वर्ग को देखिए, जो आमतौर पर नेशन-स्टेट के विचार को स्वर देने का काम करता है। आप पाएँगे कि भारतीयता का विचार बदल गया है। राजनीति को मर्दवादी बना देना, राज्यवादी बना देना और निरन्तर प्रगति के विचार को स्वीकार्य बनाने में मध्यम वर्ग जिम्मेदार है। भारतीय लोग यह सोचते हैं कि प्रगति न केवल स्थायी है बल्कि यह एक ही दिशा में चलने वाली रेखा की तरह है। आज ऐसी प्रगति मुमकिन नहीं है। हम ऐसी अवस्था में पहुँच गये हैं जहाँ अन्ततः हम अपनी दुनिया को नष्ट कर देंगे।

एजाज अशरफ : राष्ट्रीय पहचान क्या है? ऐसा माना जाता था कि भारतीय पहचान जाति, धर्म, धार्मिक और भाषाई पहचान के जोड़ से अधिक है। अब देखा जा सकता है कि भारतीय पहचान हिन्दू होना हो गयी है।

आशीष नन्दी : इस तरह की चेतना, जिस की बात आप कर रहे हैं। वह हमेशा से थी। लेकिन यह दबी हुई थी, अवचेतन में थी। बहुसंख्यक को पहले लगता था कि वह बहुसंख्यक है, लेकिन अब उसे लगता है कि वह पीड़ित बहुसंख्यक है। मेरे मित्र राजनीतिक विज्ञानी डीएल सेठ को एक बार आरएसएस ने अपने सदस्यों को सम्बोधित करने के लिए बुलाया था। सेठ भारत के चन्द शानदार राजनीतिक विचारकों में से हैं। सेठ ने उनसे कहा कि पहले आप मेजॉरिटी की तरह बात करना सीख लें तब मैं आकर अपनी बात रखूँगा। पीड़ित होने की भावना बहुसंख्यक के अन्दर पैठ कर गयी है। इससे पहले बहुसंख्यक के भीतर आत्मविश्वास था।

इस भावना के पीछे मध्यमवर्ग है। इसकी संख्या और प्रभाव बढ़ा है लेकिन इसका आत्मविश्वास कमजोर हो गया है। अब यह सिर्फ अपने बारे में नहीं सोचता। यह मध्यम वर्ग का काम है कि समाज को विचार दे। मध्यमवर्ग निर्णय करता है कि कौन से विचार गलत हैं। विश्वविद्यालय और स्कूलों की यहाँ भूमिका है लेकिन अब मध्यमवर्ग का विचार गड्ड-मड्ड है जो उसे मीडिया से मिल रहा है।

एजाज अशरफ : क्या मध्यम वर्ग के जीवन में अनिश्चितता के भाव के बढ़ने की वजह से उसकी चेतना पर असर पड़ रहा है?

आशीष नन्दी : एकदम यही बात है। मध्यम वर्ग आसपास घट रही चीजों की कोई समझ नहीं रखता। उदाहरण के लिए पंजाब को लीजिए। वहाँ क्या हुआ? पंजाब देश की ड्रग राजधानी अनायास ही नहीं बन गया। पंजाब के बाहर लोग आज भी सोचते हैं कि वहाँ हरित क्रांति चल रही है। लेकिन वास्तव में पंजाब के किसान अपनी जमीन ऊँचे दामों में बेचकर अपने बच्चों को ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों में पढ़ने के लिए भेज रहे हैं।

एजाज अशरफ : उनके बर्ताव में बदलाव क्या दर्शाता है?

आशीष नन्दी : आधुनिक हो रहे समाजों में किसान बर्बाद हो रहे हैं। ऐसे समाज में एक अलिखित नियम है कि कृषि पर निर्भर लोग कम होते जाएँगे। पहले यह विचार था कि भारत को आधुनिक बनना चाहिए लेकिन इससे बेदखली नहीं होनी चाहिए और यदि आधुनिकरण की प्रक्रिया में कृषि पर निर्भर लोग कम होते हैं तो यह ठीक है।

1995 से आज तक तीन लाख किसानों ने आत्महत्या की है। शायद जापान को एक अपवाद माना जा सकता है लेकिन अन्य किसी सभ्य समाज में यह असहनीय बात होती। धनी देशों में जापान में सबसे अधिक आत्महत्या दर है। हर जगह एक तरह का अलगाव है।

एजाज अशरफ : बीजेपी ने भोपाल से साध्वी प्रज्ञा को लोकसभा का उम्मीदवार बनाया था इस बारे में आप क्या सोचते हैं?

आशीष नन्दी : यह बीजेपी के आत्मविश्वास का प्रतीक है कि उसे अब इस बात का डर नहीं है कि वह क्या बोलती है। उसने मतदाताओं को विश्वास में ले लिया है।

एजाज अशरफ : बीजेपी की जीत से यह सन्देश जाता है कि उसका दावा सही है।

आशीष नन्दी : जी हाँ इस पर कोई सन्देह नहीं। बीजेपी को अब एकमात्र डर न्यायपालिका से है।

(एजाज अशरफ दिल्ली में पत्रकार हैं।

कारवाँ हिन्दी वेब से साभार)

निशरीन जाफरी हुसैन का श्वेता भट्ट को एक पत्र

2002 के गुजरात दंगे में मारे गये पूर्व सांसद एहसान जाफरी की बेटी निशरीन जाफरी हुसैन ने पूर्व आईपीएस संजीव भट्ट की पत्नी श्वेता भट्ट को एक पत्र लिखा है। इसमें उन्होंने मौजूदा भारत और उसके लोगों की स्थितियों की नंगी सच्चाई का बयान किया है। अंग्रेजी में लिखे गये पत्र का अनुवाद जनचौक ने प्रकाशित किया है।

प्रिय श्वेता संजीव भट्ट,

भारत में न्याय और मानवाधिकारों के लिए लड़ाई एक लम्बी और अकेली लड़ाई है।

एक बार तीस्ता सीतलवाड़ ने एक साक्षात्कार में इस बात का जिक्र किया था और फिर उनके वाक्य की गहराई को समझने के लिए मैंने हफ्तों प्रयास किया। मैं यह अकेलापन पहले दिन से ही महसूस करने लगी थी लेकिन मैं नहीं जानती थी कि कैसे इसको जाहिर करूँ। इसलिए मुझे बताने दीजिए कि आपके पति ने जो रास्ता चुना है वह कितना अकेला है और आगे यह आपके, आपके बच्चों और परिवार के लिए कितना लम्बा, अकेला और कठिन होगा। केवल इस स्थिति में अगर आपने इसका आकलन नहीं किया है।

मेरी माँ केवल 23 साल की थीं जब किसी समय 1960 में वह अहमदाबाद में पहुँची थीं और फिर 2002 में 60 साल की उम्र में उस रात उसी साड़ी में घर से बाहर सड़क पर निकलीं जिसे उन्होंने 28 फरवरी की सुबह पहन रखा था। वह उसी सड़क पर थीं जिस पर वह 40 से ज्यादा सालों तक चली थीं लेकिन चमनपुरा के उनके घर से गाँधीनगर के रास्ते तक कोई एक दरवाजा नहीं था जो उनके लिए खुला हो। आखिर में एक पारिवारिक मित्र का घर खुला हुआ था और उसने उनका खुली बाँहों से स्वागत किया।

क्या आप सोचती हैं शहर, जिसे आप अपना घर कहती हैं और लोग जिन्हें आप मेरे देशवासी कहकर बुलाती हैं। क्या वे इस बात की परवाह करते हैं कि आप किन हालात से गुजर रही हैं?

अहमदाबाद में रहने वाले बड़े-बड़े लोगों और मेरे पिता के लम्बे समय तक रहे मित्रों में से कोई भी उनके लिए नहीं आया। यहाँ तक कि वे जिन्होंने किचेन में बैठकर मेरे पिता के साथ मीट करी और बिरियानी खायी थी, दसियों लाख लोग रहे होंगे अहमदाबाद में मेरे पिता ने जिनके साथ काम किया था, चुनाव लड़े, कोर्ट के मुकदमे लड़े, रैलियों में साथ चले, विरोध प्रदर्शनों में धरने पर बैठे, होली खेली, ईद और दीवाली मनायी और ढेर सारी चीजें एक साथ आयोजित कीं। यहाँ तक कि जब वह गाँधीनगर में थीं और मेरे पिता समेत उनके समुदाय के सैकड़ों लोगों की बर्बर हत्या की खबर फैल गयी थी। क्या आप सोचती हैं क्योंकि आपके पति का काम इस राज्य और शहर में रहा है, आपके पति की शिक्षा और सेवा, अपने देश की सेवा का उनका सपना, ईमानदारी और समर्पण पर यहाँ विचार होने वाला है और ये लोग आपकी लड़ाई में शामिल हो जाएँगे?

अगर इसी तरह की और इतने बड़े स्तर की कोई घटना कनाडा में घटती और एक पूर्व संसद सदस्य इतने बुरे तरीके से जलाया जाता और फिर उसकी हत्या होती जिसमें उसके साथ 169 दूसरे लोग होते तो पीएम ट्रुडो और उनकी पूरी कैबिनेट पूरी संसद को बन्द कर देते और हर पीड़ित की सहायता में खड़े हो जाते।

ज्यादातर बड़े व्यवसायी गुलबर्ग सोसाइटी और दूसरे इलाकों पर काम शुरू कर देते और मकानों को फिर से बनाने और बेघरों को फिर से बसाने के काम में लग जाते। 2002 में और यहाँ तक कि अभी भी भारत के तीन सबसे दौलतमन्द व्यवसायी गुजरात से हैं, यहाँ तक कि उस परिवार की महिलाएँ जो चैरिटी के काम पर गर्व करती हैं वे भी सहायता के लिए आगे नहीं आयीं या फिर अपनी एकता और प्यार दिखाने के लिए दूसरी धनी और मशहूर महिलाओं को भी एकत्रित नहीं कीं। आप सोचती हैं क्योंकि आप एक साड़ी पहनती हैं और अपने माथे पर एक सुन्दर बिन्दी लगाती हैं इसलिए वो आपको एक इनसान समझेंगे और एक माँ, एक पत्नी और एक पुत्री के रूप में आप पर क्या गुजर रही है उसके बारे में सोचेंगे और आपकी लड़ाई में शामिल हो जाएँगे?

हमारे शहरों, कस्बों और गाँवों में 10 लाख से ज्यादा भारतीय महिलाएँ रोजाना सुबह मंदिरों में जाती हैं लेकिन उनमें से किसी ने उस दिन नहीं सोचा कि शहर जिसे वो दूसरों के साथ साझा करती हैं, उसका एक पूरा समुदाय सड़क पर है और युवा बच्चों और बुजुर्ग माता-पिताओं के साथ बैठने और सोने के लिए एक स्थान की तलाश कर रहा है।

जब एक समुदाय का एक हिस्सा न केवल अपने घरों से बाहर फेंक दिया गया था बल्कि उनमें से कुछ अपने घायल बच्चों या माता-पिता को उन्हीं कपड़ों में कई दिनों तक ढोते फिर रहे थे, कुछ हजारों की संख्या में जले पड़े शवों में अपनों की तलाश कर रहे थे और कुछ मुस्लिम इलाकों के स्कूलों के फर्शों पर बैठे हुए थे और सोने की कोशिश कर रहे थे जिन्हें अब शरणार्थी शिविरों में तब्दील कर दिया गया था और या फिर कुछ ऐसे जो स्थानों की तलाश करते हुए कब्रिस्तान के बगल में एडजस्ट कर रहे थे उसी समय शिक्षकों से भरे गुजरात के स्कूल, कालेज और महिला प्रोफेसरों से भरे विश्वविद्यालय, कामकाजी महिलाओं से भरे व्यवसाय में सभी अपने रुटीन में काम कर रहे थे।

आप सोचती हैं कि जब आपके पति फासिस्टों के खिलाफ लड़ाई लड़ते हुए जेल में हैं तब यही लोग आप किन स्थितियों से गुजर रही हैं उसकी चिन्ता करेंगे?

किसी दूसरे युग या फिर देश में न केवल आईपीएस ऑफिसर्स बल्कि सभी सरकारी अफसर वह भी न केवल गुजरात के बल्कि पूरे भारत के हड़ताल पर चले गये होते और माँग करते कि उस प्रताड़ना को तत्काल समाप्त किया जाये जिससे संजीव जी गुजर रहे हैं।

लेकिन आप भारत में हैं मेरी दोस्त; यहाँ हमको बड़ा ही किया जाता है बहुत सारी चीजों में घृणा के कुछ डोज के साथ जो हमें विभाजित करने का काम करते हैं। और अगर आपदा हम पर हमला करती है तो हम प्रार्थना करते हैं कि यह एक प्राकृतिक आपदा है न कि धार्मिक या फिर राजनीतिक जो घृणा की आपदा पर आधारित है। केवल वही जो इस घृणा के पीड़ित हैं सच में यह जानते हैं कि यह रास्ता कितना तनहा है। पूरे प्यार के साथ, आप और आपके दृढ़ निश्चयी पति संजीव भट्ट के लिए प्रार्थना करती हूँ।

सच में आपकी

निशरीन जाफरी हुसैन

दिहाड़ीदार

पत्रकारपुरम में पत्रकार तो कोई
दिखता नहीं अलबता जुटती है
भीड़ हर सुबह
दिहाडीदारों की।
दिहाडीदार हर उम्र के
जवान, बूढ़े औरत, मर्द
जाते हैं पहचाने
अपने पहनावों हाथों में पकड़े
खुरपियों, करंडियों, रूसा,
और साबड़, तसलों से
दूर से ही।
खड़े, उकड़ूँ और पालथी मारकर
बैठे स्त्री, पुरुष
किसी बिल्डर किसी सेठ, गर्जमन्द द्वारा
बुलाये जाने के
इन्तजार में
घेरे रहते हैं
चौराहे को ही।
मर्दों के कंधों, गलों में
झूलते, डोलते
गमछे, महीन तौलिये
औरतें घुटनों तक
साड़ी उठाये
माँग में सिन्दूर की लम्बी रेखा खींचे
एक आँख से
किसी के द्वारा
देखे जाने
और दूसरी आँख
साथी से गप्पे लड़ाने में व्यस्त होने का
आभास देती
लेकिन रहती हैं गड़ी
किसी बुलावे के इन्तजार में।
एक-एक कर अथवा टोलियों में
अपने साथ ले जाएँगे इनको
कोई न कोई ठेकेदार, गर्जमन्द
पटाने अपने अटके काम।
हर सुबह
बोली लगने के
इन्तजार में
हाट में जैसे
बिकती हैं चीजें छाँट-छाँट कर
तोल-मोल कर
अच्छी और मजबूत वस्तुओं की
लगती पहले
ऊँची बोली
छँटते-छँटते
और जो रह जाती
आखिर तक वह बिकती है
औने-पौने दाम पर।
दिहाड़ीदारों की
इस हाट में
हट्टे-कट्टों की
पूछ-पूछ
कमजोर, औरतों, बूढों का
आता नम्बर
सबसे आखिर में
पाते औने-पौने दिहाड़ी
ज्यों हाट में
सबसे आखिर में
बिकने वाली वस्तु
बिकती सबसे कम दाम पर।

-- शेर सिंह

फिल्म समीक्षा

बजबजाता समाज और सिनेमा की खिड़की 'आर्टिकल 15'

-- दीपक तिरुवा

ट्रेलर रिलीज के साथ ही रा-1, तुम-बिन, गुलाबी गैंग और मुल्क जैसी सफल फिल्मों के डाइरेक्टर अनुभव सिन्हा की फिल्म आर्टिकल 15 पर जो बहसबाजी शुरू हो गयी थी वह अब रिलीज के बाद कहीं समर्थन और कहीं फिल्म के उग्र विरोध में विकसित हो चुकी है। फिल्म को बदायूं में दो नाबालिग दलित लड़कियों को मारकर लटकाये जाने की घटना से जोड़कर देखा जा रहा है। हालाँकि उस घटना और फिल्म की कहानी में खास साम्य नहीं है।

आर्टिकल 15 को लेकर दलित बुद्धिजीवियों की आपत्ति है कि ब्राह्मण को दलितों का तारणहार क्यों दिखाया गया? बकौल उनके यह अव्यवहारिक और लगभग असम्भव बात है। इस बहाने बात सिनेमा में दलित लेखकों, अभिनेताओं, कलाकारों और निर्माता निर्देशकों की कमी तक पहुँचती है।

दूसरी ओर ब्राह्मणों के कतिपय संगठन और करणी सेना आदि ब्राह्मण और हिन्दू अस्मिता वगैरह का झण्डा लेकर फिल्म पर 'पद्मावत' नुमा अफरातफरी फैलाने की जुगत में लगे हुये हैं। अनेक स्थानों पर फिल्म का प्रदर्शन विरोध के कारण रोका गया है।

दलित बुद्धिजीवियों की आपत्ति पर बात करें तो आर्टिकल 15 के मुख्य किरदार अयान रंजन को आप केवल ब्राह्मण होने तक सीमित करके नहीं देख सकते। वह उच्च वर्ग का, अंग्रेजीपरस्त, विदेश में पढ़ा-लिखा सामाजिक सरोकार विहीन और भारतीय होने के गर्व से लबरेज वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके लिए रूरल इंडिया 'सो ब्यूटीफुल' है।

अयान रंजन आईपीएस अधिकारी की हैसियत से उत्तर प्रदेश आता है। जहाँ मजदूरी में 3 रुपये की बढ़ोत्तरी की माँग करने पर 3 नाबालिग लड़कियों का गैंग रेप होता है, 2 को मारकर पेड़ से लटका दिया जाता है। पुलिस वाले मानते हैं कि 'इन लोगों' में ये आम घटना है, क्योंकि लड़कियाँ दलित हैं और यहाँ पुलिस का सरकारी ड्राईवर तक दलित की दुकान से मिनरल वॉटर नहीं खरीदता।

अयान अपने मातहत पुलिस वालों की बात पर यकीन करता है कि लड़कियाँ समलैंगिक थीं इसलिए उनके बाप ने ही उन्हें मार कर लटका दिये थे। केस बन्द होने की कगार पर है। लेकिन हीरो की एक्टिविस्ट प्रेमिका उसके जमीर में जमीर को उकसा देती है। तब इस अयान का रियल इंडिया से सामना होता है।

अयान इस सवाल तक पहुँचता है कि अगर आप ताजमहल टाइप प्रतीकों और जीडीपी के बढ़ने भर से भारत पर गर्व करते हैं तो क्या आप नंगे बदन गटर में घुस कर मल साफ करने वाली दुनिया को भारत मानते ही नहीं? गटर में घुसकर सफाई करते आदमी का एक दृश्य है, जिसके बैकग्राउंड में वंदेमातरम बजता है। ये अयान के रियलाइजेशन की कहानी है।

यानी फिल्म का मुख्य किरदार ब्राह्मण क्यों हो, दलित क्यों नहीं? इस कहानी के साथ ये कोई जायज सवाल नहीं रह जाता। वैसे भी फिल्म में नायक (हीरो) निषाद और मुख्य पात्र (प्रोटागोनिस्ट) अयान अलग-अलग हैं।

दलितों का अपना नेतृत्व उन्हें वोट बैंक बनाकर मनमाने गठबन्धन कर सत्ता की मलाई खा रहा है और जमीनी स्तर पर उनके हालात बदतर बने हुये हैं। इस नेतृत्व से मोहभंग से फिल्म में चन्द्रशेखर-रावण जैसा एक विद्रोही चरित्र निषाद उभरता है, जो फिल्म का नायक या हीरो है, जिस पर रासुका लगायी गयी है। खुद दलित नेता जिसकी जान के दुश्मन हैं। निषाद की भूमिका जीशान अय्यूब ने खूब निभायी है।

अपनी बहन के लिए न्याय माँग रही गौरा का चरित्र और उसमें सयानी गुप्ता का शानदार अभिनय फिल्म में जान फूँकते हैं, इस एक्ट्रेस ने 'इनसाइड एज' में ही इससे पहले ध्यान खींचा था।

आयुष्मान खुराना हल्की फुलकी फिल्मों से अलग नये इंटेन्स अवतार में दिख रहे हैं। मनोज पाहवा का निभाया हुआ पुलिस ऑफिसर का नेगेटिव रोल मेरे खयाल में अब तक की बेस्ट परफोर्मेंस है।

आकाश दभाड़े ने आयुष्मान खुराना के साथ यूपीएससी की

तैयारी करने और नाकाम रहने वाले दोस्त के किरदार में छू लेने वाला अभिनय किया है।

फिल्म का सबसे मजबूत पक्ष गौरव सोलंकी की लिखी हुई पटकथा है। हालाँकि कांस्टेबल की बहन का आईपीएस के घर कुक होना, मिसफिट लगता है, छोटे सरकारी नौकर की भी इतनी बुरी हालत तो नहीं होते, यहाँ कुछ क्रिएटिव लिबर्टी ले ली गयी है। डाइलॉग सटीक और चुटीले हैं, मसलन, "हमें हीरो नहीं चाहिए बस ऐसे लोग चाहिए जो हीरो का इन्तजार न करें" "ज्यादा से ज्यादा क्या होगा आप मर जाएँगे, मर तो आप काफी पहले ही चुके हैं, बस आपको ये बात पता नहीं है।"

इवान मुलीगन की सिनेमेटोग्राफी असरदार है, धुन्ध में पेड़ से लटके हुए दो लड़कियों के शव वाला फ्रेम दर फ्रेम सीक्वेंस देखने लायक बना है।

अनुभव सिन्हा की मुल्क के बाद सामाजिक मुद्दे पर ये दूसरी शानदार फिल्म है। बकौल निर्देशक अनुराग कश्यप "मुल्क अच्छी फिल्म थी और आर्टिकल 15 अच्छा सिनेमा है"। एक डाइरेक्टर के लिए ये एक बड़ा कॉम्प्लिमेंट है।

कुल मिलाकर खालिस मसाला फिल्मों से सामाजिक सरोकार वाली फिल्मों तक आ पहुँचे बॉलीवुड को एक नयी दिशा देती शानदार और साहसिक फिल्म है।

समाज की परतें उघाड़ने वाली फिल्म 'आर्टिकल 15'

'आर्टिकल 15' फिल्म देखने जा रहे हैं तो उसके संवादों को ध्यान से सुनियेगा।

"मैं राइटर बनना चाहता था और साइंटिस्ट भी... फिर सोचा कि शायद साइंस का राइटर बन जाऊँगा। कुछ भी न हुआ साला! क्योंकि पैदा जहाँ हुआ वहाँ पैदा होना ही एक भयानक एक्सीडेंट जैसा था।"

ये 'आर्टिकल 15' के एक अहम किरदार दलित नेता निषाद (जीशान अयूब) के भीतर चल रहा संवाद है। जिसे अभी-अभी बन्दूकों के दम पर अगवा किया गया है।

दृश्य बदलता है।

महंत मंच से आह्वान कर रहे हैं, "जाति कोई भी हो लेकिन हिन्दुओं के एक होने का वक्त है ये... और सही दुश्मन पहचानने का भी वक्त है ये..."

दृश्य फिर बदलता है...

"जितने लोग बार्डर पर शहीद होते हैं उससे ज्यादा गटर साफ करते हुए हो जाते हैं... पर उनके लिए तो कोई मौन तक नहीं रखता..." बन्धक बनाकर ले जाये जा रहे निषाद के भीतर आत्ममंथन चल ही रहा है, "कभी मुझे कुछ हो गया तो आप लोगों को गुस्सा आयेगा... उसी गुस्से को हथियार बनाना है लेकिन उसके अलावा कोई हथियार बीच में नहीं आना चाहिए दोस्तों! क्योंकि जिस दिन हम लोग हिंसा के रास्ते पर चले इनके लिए हमें मारना और भी आसान हो जायेगा।"

फिल्म का नायक दरअसल निषाद को होना था। वह फिल्म के छोटे से हिस्से में अपने समूचे नायकत्व के साथ आता है और याद रह जाता है। उसके स्वयं से चल रहे संवाद याद रह जाते हैं।

दरअसल अनुभव सिन्हा और गौरव सोलंकी की लिखी फिल्म 'आर्टिकल 15' का हर संवाद सुने जाने लायक है। छोटे-छोटे दृश्यों और निरन्तर चलने वाले संवादों से बुनी गयी यह एक बड़ी फिल्म है। संवादों का इस फिल्म में एक सिलसिला है। छोटे-छोटे इन मारक संवादों का कोलाज एक कालिमा से भरी तसवीर में बदल जाता है।

संवाद उसी वक्त से शुरू हो जाता है जब अयान रंजन (आयुष्मान खुराना) बॉब डिलन को सुनते हुए लखनऊ एक्सप्रेस-वे से गुजर रहा है। "हाउ मेनी रोड्स मस्ट ए मैन वाक डाउन/ बिफोर यू कैन काल हिम अ मैन/ हाउ मेनी सीज मस्ट अ डोव सेल/ बिफोर शी स्लिप्स इन द सैंड?" (कितनी सड़कों की धूल फाँके एक आदमी/इसके पहले की तुम्हारी नजर में आदमी हो सके/कितने समन्दर पार करे एक सफेद कबूतर/इसके पहले की वह रेत के ऊपर सो सके?) कैमरा उसकी फोन के बगल में रखी किताब पर हल्का सा फोकस करते हुए पहली बार नायक की तरफ घूमना है। और यह किताब है जवाहरलाल नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया'। यह अयान के भीतर बसा भारत है। लेकिन गाड़ी उसको किसी और भारत में लेकर जा रही है। फिल्म में वह लगताार अपनी दिल्ली में रहने वाली मित्र से चैट के जरिये संवाद करता रहता है। अयान सेकेंड जेनरेशन अफसर है। चर्चा में हम जान जाते हैं कि अयान के पिता आइएफएस थे। रिटारमेंट के बाद किताब लिखी। अयान की पढ़ाई विदेश में हुई है। पनिश्मेंट पोस्टिंग में लालपुर आ गया, जहाँ से उसे वह भारत देखना है जो 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के

भारत से अलग है।

और यह एक अलग दुनिया है। यूँ कहें तो यही असल दुनिया है, जहाँ तीन रुपये मजदूरी बढ़ाने की माँग करने पर लड़कियों का रेप करके उन्हें पेड़ से लटका दिया जाता है।

हर संवाद, हर बात इस फिल्म को खोलती है। यह अनुभव सिन्हा की खूबी बनती जा रही है। मुल्क फिल्म में उन्होंने 'हम' और 'वो' की पड़ताल की थी तो इस फिल्म में 'उन लोगों' की पड़ताल करते हैं। 'इनका रोज का प्राब्लम है', 'ये सब ऐसे ही हैं', 'इन लोगों का कुछ नहीं हो सकता'। हम हर रोज कितनी आसानी से सुनते हैं। लेकिन अनुभव सिन्हा इसे चुभने वाले शब्द बना देते हैं।

धीरे-धीरे ये शब्द दृश्य में बदलने लगते हैं। सुबह के धुँधलके में लटकी लाशें, लड़कियों के साथ रेप और धीरे-धीरे किसी थ्रिलर की तरह इन हत्याओं के पीछे के नेक्सस का सामने आना जो न सिर्फ भयावह है बल्कि उसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि पता लगाना मुश्किल है कि एक सिरे का दूसरा छोर कहाँ पर है।

अनुभव सिन्हा ने इस फिल्म में अद्‌भुत दृश्य रचे हैं। धुंध में पेड़ से लटकी लड़कियों के दृश्य में भागकर एक बच्चे का आ जाना। गटर के भीतर गोता लगाकर निकलता सफाईकर्मी। कचरा खाकर बीमार हुए कुत्ते की चिन्ता करते ब्रह्मदत्त सिंह। और सबसे बढ़कर सुअरताल। यह अपने-आप में एक किरदार बन गया है। गन्दे पानी और कचरे के इस ताल में लाश खोजते पुलिस वालों का फिल्मांकन अद्‌भुत है।

'आर्टिकल 15' इसलिए एक बड़ी फिल्म बन जाती है क्योंकि यह फिल्म लोगों को खलनायक नहीं बनाती है। वह मानसिकता पर प्रहार करती है।

फिल्म खलनायकों से धीरे-धीरे हटती है और सिस्टम की परतें खोलती है। सिस्टम की परतों में सदियों से चली आ रही जाति-व्यवस्था की सड़ांध सामने आती है।

अयान पूछता है, "कौन कर रहा है वायलेंस सर? कभी-कभी बाहर दिखने वाले वायलेंस के पीछे एक ऐसा वायलेंस होता है जिसके बारे में कोई बात नहीं करता। वो हमारी सभ्यता का हिस्सा बन जाता है। उसे हम हिंसा नहीं कहते। सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।"

"आग लगी हो तो न्यूट्रल रहने का मतलब यह होता है सर कि आप उनके साथ खड़े हैं जो आग लगा रहे हैं!"

"हमारे कमोड्स में अब जेट स्प्रे लग गये हैं सर। पर ये आज भी मेनहोल में सफाई के लिए नंगे उतरते हैं, मादरजात नंगे।"

अनुभव की फिल्म के ये सभी संवाद तीर की तरह कलेजे में चुभते हैं। इनकी चुभन को साथ लेकर हाल से निकलना होगा।

शायद इसीलिए यह फिल्म कई सालों से बदल-बदलकर रचे जा रहे एक मार्मिक गीत से शुरू होती है--

कहब त लाग जाइ धक से
कहब त लाग जाइ धक से
बड़े बड़े लोगन के महला-दुमहला
और भइया झूमर अलग से
हमरे गरीबन के झुग्गी-झोपड़िया
आँधी आये गिर जाये धड़ से
बड़े बड़े लोगन के हलुआ पराठा
और मिनरल वाटर अलग से
हमरे गरीबन के चटनी औ रोटी
पानी पीयें बालू वाला नल से
कहब त लाग जाइ धक से

(दिनेश श्रीनेत के फेसबुक वाल से)

ठेस

विचारधारा की ठेस खाए मित्रों!
भूलो मत
कभी विचारधारा की इसी नदी में तैरे थे तुम
छपकोइयाँ मारी थीं
बाहों की मछलियाँ तैराई थीं
तरोताजा हुए
मल-मूत्र उत्सर्जित किये

लगातार सूखती हुई माँ को
महादेव बनाने में तुम्हारा कितना हाथ रहा मित्रों?

पूजा जिन विचार-शिलाओं को
ठेस उसी से खाई

विश्वास की ठेस भीतर तक करकती है न!

मित्रों , लाल हो आई चोट को हौले-हौले रगड़ो
कि नीला न पड़ जाये
खून का थक्का बनना ठीक नहीं
विचारों की गुलठी न बने
उन्हें रगड़ो और दर्द को काफूर समझ आगे बढ़ो
कोई ठोकर जिन्दगी नहीं रोक सकती

-- देवेन्द्र आर्य

हथियारों की बढ़ती होड़ विश्व शान्ति के लिए खतरा

-- अजहर

स्टॉकहोम इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट की एक रिपोर्ट के अनुसार दुनिया का कुल सैन्य खर्च 2017 के मुकाबले 2.6 फीसदी बढ़कर 2018 में 1822 अरब डॉलर हो गया था जो दुनिया के कुल जीडीपी का 2.1 फीसदी है। हर साल सैन्य खर्च के साथ-साथ हथियारों का कारोबार भी तेजी से फल-फूल रहा है। स्टॉकहोम इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने बीबीसी को बताया कि हर साल हथियारों का 100 अरब डॉलर का अन्तरराष्ट्रीय कारोबार होता है। सैन्य खर्च के मामले में अमरीका, चीन, सउदी अरब, भारत और फ्रांस पाँच सबसे बड़े देश हैं। कुल सैन्य खर्च में इन पाँच देशों की हिस्सेदारी 60 फीसदी है। अमरीका के नेतृत्व वाला नाटो जो कई देशों का सैन्य संगठन है, कुल सैन्य खर्च में उसका हिस्सा 53 फीसदी है। अमरीका अकेले ही दुनिया के कुल सैन्य खर्च का 36 फीसदी खर्च करता है। हथियारों के उत्पादन और निर्यात के मामले में भी अमरीका सबसे आगे है। दुनिया की तीन सबसे बड़ी हथियार बनाने वाली कम्पनियाँ अमरीका की हैं और दुनिया की 10 सबसे बड़ी हथियार बनाने वाली कम्पनियों में 6 अमरीकी हैं। अमरीका अकेले ही 36 फीसदी हथियारों के निर्यात पर काबिज है जबकि अमरीका के साथ रूस, फ्रांस, जर्मनी और चीन मिलकर 75 फीसदी हथियारों का निर्यात करते हैं।

दुनिया के सभी देश हर साल अपना सैन्य खर्च बढ़ा रहे हैं जिससे हथियारों के व्यापार में भारी उछाल आ रहा है। सउदी अरब के बाद भारत दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा हथियारों का खरीदार है। एक रिपोर्ट के अनुसार 2008 से 2012 और 2013 से 2017 के बीच भारत द्वारा हथियारों के आयात दर में 24 फीसदी की वृद्धि हुई थी। भारत 2013 से 2017 के बीच हथियारों का सबसे बड़ा आयात करने वाला देश था। इसका आयात विश्व के कुल हथियार आयात का 12 फीसदी था। पिछले दस सालों में मध्यपूर्व में हथियारों का आयात बढ़कर दो गुना हो गया है। खासकर सीरिया और यमन में चल रहे गृह-युद्ध ने हथियारों के आयात को बढ़ावा दिया है। 20 मई 2017 को अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प और सउदी अरब के शाह सलमान बिन अब्दुलाजीज के बीच आशय पत्रों की एक शृंखला पर हस्ताक्षर किया गया। इसके तहत सउदी अरब तुरन्त अमरीका से 110 अरब डॉलर के हथियार खरीदेगा और अगले 10 सालों में वह 350 अरब डॉलर के और हथियार खरीदेगा। यमन के खिलाफ युद्ध में सउदी अरब ने अमरीका द्वारा दिये गये उन्नत हथियारों का इस्तेमाल किया। दुनिया के साम्राज्यवादी देशों के लिए ऐसे मौके हथियारों के कारोबार के लिए बहुत मुफीद साबित हुए।

पारम्परिक हथियारों के अन्तरराष्ट्रीय कारोबार को नियन्त्रित करने के लिए 2014 में आर्म्स-ट्रेड ट्रीटी (एटीटी) बनायी गयी थी। इसका काम हथियारों के निर्यात पर नजर रखना, विश्व शान्ति स्थापित करना और यह सुनिश्चित करना है कि इससे हथियारों को लेकर बने नियम और पाबन्दियाँ न टूटें। लेकिन इसका भी कुछ खास प्रभाव नहीं है। दुनिया के हथियार उत्पादक देश न केवल गरीब और पिछड़े देशों को हथियार बेचते हैं बल्कि कई आतंकवादी संगठनों को भी हथियार मुहैया कराते हैं।

हथियारों का कारोबार भ्रष्टाचार का एक बहुत बड़ा स्रोत भी है। राष्ट्रीय सुरक्षा का तर्क हथियारों के सौदे में गोपनीयता का हवाला देता है जिससे भ्रष्टाचार का खुलासा नहीं हो पाता। ट्रांसपैरेन्सी इण्टरनेशनल के जॉय रोएबर ने बताया था कि हथियारों के व्यापार में भ्रष्टाचार का पैमाना इतना बड़ा है कि रिश्वत का छोटा प्रतिशत भी रुपये की भारी मात्रा के बराबर होता है। उन्होंने हथियारों के कारोबार को ''भ्रष्टाचार के लिए कड़ी मेहनत'' कहा था। हथियार उद्योग विश्व का भ्रष्टतम उद्योग है। भारत में रफाएल विमान सौदे का विवाद इसका एक अहम उदाहरण है।

दुनिया में सबसे अधिक हथियारों के उत्पादन और निर्यात करने वाले देश अमरीका के राष्ट्रपति बराक ओबामा को 2009 में विश्व शान्ति का नोबल पुरस्कार दिया गया। इससे यह पता चलता है कि जो देश जितना अधिक हथियारों का उत्पादन और व्यापार कर रहें हैं वही सबसे अधिक विश्व शान्ति का राग अलाप रहे हैं। हथियारों के अंधाधुन्ध उत्पादन और व्यापार के पीछे तर्क भी विश्व शान्ति ही है। देश की सुरक्षा बढ़ाने, पड़ोसी देश द्वारा युद्ध का भय दिखाकर और आतंकवाद से मुकाबला करने का ढोंग रचकर दुनिया के साम्राज्यवादी देश पिछड़े और विकासशील देशों को धड़ल्ले से हथियार बेच रहे हैं। ईरान और इराक, इजराइल और फिलिस्तीन, भारत और पाकिस्तान, सउदी अरब और यमन, उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया के बीच चल रहे तनाव का फायदा

उठाकर अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देश हथियारों का भरपूर उत्पादन और निर्यात कर रहे हैं। आज विकासशील देशों के जीडीपी का बहुत बड़ा हिस्सा हथियारों की खरीद के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। जबकि इन देशों की जनता के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक जीवन की बुनियादी जरूरतों को पूरा कर पाना भी सम्भव नहीं है। पिछले कुछ सालों के दौरान अगर सुरक्षा और युद्ध के सामान पर दुनिया के सभी देशों का खर्च बढ़ा है, वही स्वास्थ्य और शिक्षा पर खर्च घटाया जा रहा है। आज युद्ध सामग्री पर पूरी दुनिया में जितना खर्च किया जा रहा है, उसके कुछ हिस्से के इस्तेमाल से ही पूरी दुनिया में शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और खाद्य संकट जैसी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि संगठन ने 2008 में बताया था कि दुनिया से भुखमरी खत्म करने के लिए हर साल 30 अरब डॉलर की आवश्यकता है। हथियारों पर हर साल हजारों अरब डॉलर खर्च किया जा रहा है लेकिन आज तक दुनिया से भुखमरी को खत्म नहीं किया जा सका। पिछले साल संयुक्त राष्ट्र संघ ने निरक्षरता को खत्म करने के लिए 10 अरब डॉलर जुटाने का अभियान शुरु किया था। लेकिन इस राशि को जुटा पाना भी असम्भव हो गया।

> अमरीका में हर सौ व्यक्ति पर 112.6 बन्दूकें हैं। इसके बाद सर्बिया के पास 75.6 बन्दूके हैं।

अब सवाल यह है कि दुनिया के साम्राज्यवादी देश क्यों हथियारों का अन्धाधुन्ध उत्पादन और निर्यात कर रहे हैं? जबकि दुनिया की बहुत बड़ी मेहनतकश आबादी को शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन और आवास जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं मिल पा रही हैं। इसका मुख्य कारण हथियारों के उद्योग से अथाह मुनाफा कमाना है। आर्थिक मन्दी के मौजूदा दौर में हथियारों का व्यापार सड़ चुकी पूँजीवादी व्यवस्था को कायम रखने के लिए एक संजीवनी की तरह काम कर रहा है।

पूरी दुनिया में हथियारों का कारोबार जैसे-जैसे फल-फूल रहा है वैसे-वैसे अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देश हथियारों के नियंत्रण को लेकर किये गये अन्तरराष्ट्रीय करारों से हाथ पीछे खींच रहे हैं। जिस तरह 2002 में अमरीका ने जार्ज डब्ल्यू बुश के नेतृत्व में छः महीने की नोटिस देकर अमरीका और सोवियत संघ के बीच की एन्टी बैलेस्टिक मिसाइल (एबीएम-1972) संधि तोड़ दी थी। उसी तरह अमरीका ने 1987 में रूस के साथ किये गये इण्टरमीडिएट रेंज न्यूक्लियर फोर्स (आईएनएफ) संधि से हाथ पीछे खींचने का फैसला किया है और रूस पर यह आरोप लगाते हुए छः महिने का नोटिस दिया है कि रूस द्वारा क्रूज मिसाइल बनाने से इस संधि का उल्लंघन हुआ है। वहीं चीन अपनी सेना के आधुनिकीकरण में लगा हुआ है और थल सेना आधारित ताकत से नौसेना आधारित ताकत बनने के लिए सेना में भारी निवेश कर रहा है।

आज दुनिया का हर छोटा बड़ा देश किसी न किसी आधुनिक हथियार का मॉडल तैयार करके या आधुनिक हथियार खरीदकर अपनी महाशक्ति होने का अंधराष्ट्रवादी गुणगान कर रहा है। जिन देशों की सरकारें रोना रोती हैं कि उनके पास अपनी जनता का पेट भरने के लिए पैसा नहीं है, वे भी हथियारों पर अन्धाधुन्ध खर्च कर रही हैं। साम्राज्यवादी देश पिछड़े देशों को पुराने हथियार बेचकर वहाँ की जनता की खून-पसीने की कमाई से अपनी तिजोरियाँ भर रहे हैं। हथियारों की माँग को बरकरार रखने के लिए आतंकवाद का भय दिखा रहे हैं या पिछड़े देशों के बीच तनाव उत्पन्न करके उनको आपस में लड़ा रहे हैं। एक तरफ पिछड़े देशों की जनता युद्ध, भुखमरी और तबाही से जूझ रही है और दूसरी तरफ साम्राज्यवादी देश पिछड़े देशों को लूटकर सम्पत्ति का अम्बार लगा रहे हैं। एक देश द्वारा दूसरे देश की लूटपाट, हिंसा और युद्ध के बावजूद स्वयंभू बुद्धिजीवी खोखला दावा करते हैं कि साम्राज्यवाद का हिंसक दौर बीत चुका है। अब विश्व शान्ति बहाल होने वाली है। ऐसे लोग खुली आँखों से सपना देखते हैं और दुनिया की वास्तविकता से मुँह चुराते हैं। उन्हें सउदी अरब और यमन के क्रूर शासकों के द्वारा यमन की जनता का कत्लेआम नहीं दिखता। वे सीरिया में अमरीका और रूस की बमबारी से अनजान बने रहते हैं। वे सबकुछ भूलकर विश्व शान्ति को खतरे में डालने वाले देशों की और शान्ति की उम्मीद लगाये रहते हैं। ऐसे लोगों की बातों पर यकीन करने का खतरा अब दुनिया नहीं ले सकती।

अब साफ तौर पर यह जाहिर हो गया है कि इस विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के पास दुनिया को भुखमरी और तबाही के सिवाय देने के लिए और कुछ नहीं है। एक ओर बाजार और मुनाफे के लिए दुनिया के बँटवारे को लेकर साम्राज्यवादी देशों के बीच तनाव बढ़ता जा रहा है, वहीं हथियारों की होड़ ने दुनिया को एक बार फिर विनाश के द्वार पर ला खड़ा किया है। मुनाफे और शोषण पर आधारित इस व्यवस्था को खत्म करके ही हथियारों के व्यापार और युद्धों का खात्मा किया जा सकता है, तभी दुनिया चैन की साँस ले सकेगी और विश्व शान्ति की स्थापना की जा सकेगी।

अमरीका-ईरान टकराव की दिशा

-- प्रवीण कुमार

सीरिया में युद्ध अभी पूरी तरह खत्म भी नहीं हुआ और एक नये युद्ध की तलाश में अमरीकी जंगी बेड़ा फारस की खाड़ी में लंगर डाल चुका है। इस बार निशाने पर ईरान है। वेनेजुएला में तख्तापलट और बर्बादी की पटकथा लिखकर अमरीका एक नये युद्ध के हालात तैयार करके ईरान के दरवाजे पर पहुँच तो गया है लेकिन अमरीका का यह पुराना "दुश्मन" उस पर इक्कीस पड़ता नजर आ रहा है।

ईरान पर हमले के लिए बहाने और माहौल तैयार किये जा चुके हैं। अमरीका ने उस पर होमरूज जल डमरू में तेल के दो टैंकरों पर हमला करने और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में अमरीका के जासूसी विमान को मार गिराने के ताजा आरोप लगाये हैं। हालाँकि अरब क्षेत्र के अपने दो खास पिट्ठुओं, सऊदी अरब और इजराइल की तुरन्त हमला करने की गुजारिशों के बावजूद अमरीका हिचकिचा रहा है और युद्ध के परिणामों को लेकर भयभीत है।

अमरीकी सत्ता के शीर्षस्थ राजनीतिज्ञों ने ईरान पर हमला करने के पहले बहाने के रूप में दावा किया कि ईरान ने 13 जून को खाड़ी में दो तेल टैंकरों पर हमला किया है। इनमें से एक टैंकर जापान का था। यह महज इत्तफाक नहीं कि उसी दिन जापानी प्रधानमंत्री तेहरान में अयातुल्ला खमैनी से मुलाकात कर रहे थे। जापान ईरान के सबसे बड़े तेल ग्राहकों में से एक है। ऐसी संकट की घड़ी में जब अमरीकी प्रतिबन्धों के चलते ईरान को एक-एक बूँद तेल बेचना भारी पड़ रहा है वह जापान से बैर मोल क्यों लेगा। हद तो यह है कि अमरीका जापानी तेल टैंकर पर हमले का शोर मचाता रहा, जबकि जापान ने ईरान से कोई नाराजगी जाहिर नहीं की।

दूसरा तेल टैंकर नार्वे के सबसे धनी आदमी जॉन फ्रेड्रिकसन की कम्पनी "फ्रंटलाइन" का था। ईरान-इराक के बीच आठ साल युद्ध के दौरान-- जिसमें अमरीका इराक के साथ खड़ा था-- फ्रंटलाइन का ईरान के साथ तेल व्यापार जारी रहा और ईरानी सेना ने उसके तेल टैंकरों को सुरक्षा मुहैया करवायी। बाद में ईरान पर प्रतिबन्धों के हर दौर में फ्रंटलाइन ने ईरान से तेल खरीदना जारी रखा। जॉन फ्रेड्रिकसन यूरोप में "खमैनी का चहेता" के नाम से मशहूर है। आज, जब अमरीका ने ईरान पर इतने कठोर प्रतिबन्ध लगा रखे हैं कि फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान जैसे देशों ने ईरान से तेल खरीद लगभग बन्द कर दी है, तब भी फ्रंटलाइन ईरान से डंके की चोट पर तेल खरीद रही है और जॉन फ्रेड्रिकसन का नया नामकरण "खमैनी की जीवन रेखा" किया गया है। फ्रंटलाइन ने भी आज तक ईरान से कोई विरोध जाहिर नहीं किया है। तेल टैंकरों पर ईरान के हमले की झूठी खबरों की प्रतिक्रिया में ब्रिटेन के राजदूत ने अमरीकी जनता से कहा है कि "आपको किस हद तक मूर्ख बनाया जा सकता है, मैं इसकी थाह नहीं पा सकता।"

20 जून को ईरान ने अमरीका के सबसे उन्नत तकनीक वाले जासूसी ड्रोन विमान ग्लोबल हवाक को मार गिराया था जिसने ईरानी हवाई सीमा का उल्लंघन किया था। इस विमान के बारे में अमरीका दावा करता था कि यह रडार की पकड़ में नहीं आता। हवाई सीमा के उल्लंघन के सारे सबूत ईरानी विदेश मंत्री जावेद जरीफ दुनिया के सामने रख चुके हैं।

ईरानी विदेश मंत्री ने एक अमरीकी पी-8 विमान द्वारा भी सीमा उल्लंघन के सबूत दिये हैं, उनका कहना है कि इस विमान में 35 लोग सवार थे, इसलिए हमने इसे नहीं गिराया। इसके साथ ही उन्होंने जुलाई 1988 की उस घटना की भी याद दिलायी जिसमें अमरीकी सेना ने ईरानी क्षेत्र में ही उसके एक यात्री विमान को मार गिराया था जिसमें 66 बच्चों समेत 290 लोग मारे गये थे और अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज वुश ने घटना की सच्चाई को स्वीकार करते हुए भी माफी माँगने से इनकार कर दिया था।

विमान गिरने की घटना का इस्तेमाल अमरीका ईरान को बदनाम करने, उस पर दबाव बनाने और युद्ध के बहाने के रूप में कर रहा है। अमरीका का कहना है कि उसका विमान अन्तरराष्ट्रीय सीमा में था। इस घटना के बाद ट्रम्प ने बयान दिया था कि बदले की कार्रवाई के रूप में उन्होंने अमरीकी सेना को ईरान पर जबरदस्त हमला करने के आदेश दे दिये थे लेकिन हमले में 150 आम नागरिकों के मारे जाने की सम्भावना थी इसलिए ऐन वक्त पर उसने हमला करने के आदेश रद्द कर दिये।

इस "इंसाफ पसन्द" राष्ट्रपति की नीतियाँ सीरिया, अफगानिस्तान, वेनेजुएला और खुद अमरीका समेत सारी दुनिया की जनता पर कितना कहर ढाह चुकी हैं यह सारी दुनिया जानती है। यह कितना हास्यस्पद है कि जिस आदमी ने ईरान समेत 5 देशों के साथ हुए समझौते को एक तरफा तोड़ने, आर्थिक प्रतिबन्ध लगाकर ईरान की अर्थव्यवस्था को तबाह करने, उसके दरवाजे पर जंगी बेड़ा

ले जाकर खड़ा कर देने जैसे अनेकों अमानुषिक कुकर्म किये हैं वह ईरानी नागरिकों से इतनी हमदर्दी रखता है।

ईरानी नागरिकों के प्रति हमदर्दी का ढोंग करने वाले ट्रम्प ने जब से ईरान पर प्रतिबन्ध लगाये हैं उसकी अर्थव्यवस्था लगभग चौपट हो गयी है। उसकी आय के मुख्य श्रोत, कच्चे तेल का निर्यात 25 लाख बैरल प्रतिदिन से घटकर 3 लाख बैरल प्रतिदिन पर आ गया है। इस दौरान ईरानी मुद्रा, रियाल का चार गुना अवमूल्यन हो चुका है। महँगाई की दर 40 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। बेरोजगारी दर बढ़कर 15 प्रतिशत हो गयी है। यूरोप और अमरीका को निर्यात होने वाले ईरानी कालीन का ही व्यापार ठप्प हो जाने से लाखों लोगों की जीविका उजड़ गयी है। दवाईयों, चिकित्सा उपकरणों का आयात ठप्प हो जाने के चलते लाखों मरीजों की जान जाने का खतरा पैदा हो गया है।

अपने देश के गिनती के अरबपतियों के मुनाफे के लिए किसी राष्ट्र को तबाह कर देने की साजिश रचने वाले गिरोह का मुखिया अगर 150 आम लोगों के प्रति इतनी चिन्ता दिखाता है तो इसका कोई खास मतलब है। दरअसल अमरीका ईरान से युद्ध करना ही नहीं चाहता। एक तो हालात अमरीका के विपरीत हैं। दूसरे, ट्रम्प अमरीका द्वारा पूरी दुनिया में चलाये जा रहे युद्धों का दिखावटी विरोध करके ही सत्ता में आया था और चुनाव अब फिर से सिर पर है। इसे अमरीकी जनता को भी साधना है और अमरीकी तेल कम्पनियों और हथियार कम्पनियों के मुनाफे का भी ध्यान रखना है।

मध्य-पूर्व में डेढ़ साल से चल रहे इस तनाव से सऊदी अरब, कतर जैसे देशों को हुई बिक्री से हथियार कम्पनियों का मुनाफा पहले ही संतोषजनक स्थिति में पहुँच गया है और तनाव बढ़ने के साथ-साथ उसके और बढ़ने की सम्भावना है। जहाँ तक तेल कम्पनियों के मुनाफे का मामला है तो उसके लिए ईरान के साथ नया समझौता करने की जरूरत है। पुराने समझौते को अमरीका द्वारा एकतरफा तोड़ देने का प्रमुख कारण भी यही था। उस समझौते से ईरान के नाभकीय कार्यक्रम पर तो रोक लग गयी थी लेकिन तेल निर्यात और उसके भुगतान के लिए मुद्रा और तरीके के चुनाव में ईरान काफी हद तक आजाद था। जिसके चलते इस समझौते से अमरीकी तेल कम्पनियों को कोई खास फायदा नहीं मिला था। पुराने समझौते को तोड़ देने के बाद अब अमरीका चाहता है कि ईरान के साथ नया समझौता हो जिसमें ईरान को तेल के मामले में मिली आजादी में कटौती की जाये। ईरान पर अमरीकी दबाव जितना ज्यादा होगा, आजादी में कटौती भी उतनी ज्यादा होगी।

अमरीका को लगता था कि ईरान पहले झटके में ही झुक जाएगा। लेकिन एक साल तक प्रतिबन्ध झेलने के बाद भी न ईरान झुका और न ही अमरीका अपने कूटनीतिक प्रयासों से दूसरे देशों को ईरान पर दबाव बढ़ाने के लिए मना पाया। अब बदहवासी में वह रोज ईरान पर नये-नये प्रतिबन्ध थोप रहा है। प्रतिबन्धों से काम नहीं चला तो अपना जंगी बेड़ा ले जाकर ईरान को दरवाजे से सटा दिया है लेकिन अब भी उसकी पहली चाहत यही है कि बिना युद्ध किये ही या तो ईरान झुक जाये या फिर फिर आर्थिक बदहाली से परेशान होकर वहाँ की आम जनता बगावत पर उतारू हो जाये। ऐसी स्थिति में अमरीका मौजूदा सत्ता के विरोधियों की मदद करके ईरान में अपने मनमाफिक सरकार बनवा सके। इन दोनों रास्तों के बन्द हो जाने पर ही वह युद्ध की सोचेगा।

अमरीका के ईरान पर हमला करने में दुनिया की मौजूदा स्थिति भी एक बड़ी बाधा है। 2015 में ईरान के साथ हुए समझौते में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, रूस और चीन भी पक्ष थे। ईरान के साथ व्यापार में इन सभी देशों का फायदा था। ईरान, समझौते में शामिल यूरोपीय देशों को संवर्धित यूरेनियम की आपूर्ति करता है। उसने समझौते के टूटने की स्थिति यूरेनियम की आपूर्ति रोक देने और यूरेनियम का संवर्धन नाभिकीय हथियार बनाने के स्तर तक पहुँचाने की बात कहकर यूरोपीय देशों के ऊपर नयी शर्तों पर समझौता करने का दबाव बनाया है। इस दबाव में अब ये देश ईरान के साथ व्यापार बहाल करने के दूसरे तरीके खोज रहे हैं।

यूरोपीय देशों के अलावा ईरान से भारी मात्रा में तेल आयात करने वाले भारत, तुर्की, दक्षिण कोरिया और जापान जैसे देश भी चाहते हैं कि ईरानी तेल अमरीकी प्रभाव से मुक्त हो क्योंकि ईरान का तेल दुनिया में सबसे सस्ता पड़ता है। पिछले सालों में ईरान ने अपने पड़ोसी देशों से सम्बन्ध बेहतर किये हैं। आज इराक और पाकिस्तान जैसे उसके पुराने विरोधी राष्ट्र भी उसके साथ खड़े हैं।

मार्च 2019 में हसन रुहानी इराक की यात्रा कर चुके हैं। इराकी राष्ट्रपति बरहम सालीह ईरान के पक्ष में खुलकर बयान दिया है। इस्लामिक देशों के संगठन ओआईसी, अरब लीग और जीसीसी की बैठकों में सऊदी अरब ने जब भी ईरान के खिलाफ और अमरीका के पक्ष में बात रखी, तभी उसका कड़ा विरोध हुआ है।

ईरान की भौगोलिक स्थिति भी उस पर अमरीकी हमले के रास्ते की बड़ी बाधा है। लगभग सभी तेल उत्पादक अरब राष्ट्रों को अरब सागर से जोड़ने वाली फारस की खाड़ी बेहद संकरी है। इस संकरे रास्ते से होकर रोजाना लगभग 10 करोड़ बैरल तेल पूरी दुनिया में जाता है जो 80 लाख करोड़ डॉलर की कुल वैश्विक जीडीपी का 45 प्रतिशत है। अगर यह रास्ता कुछ दिनों के लिए भी बन्द हो गया तो पूरी विश्व अर्थव्यवस्था चरमरा जाएगी। गोल्ड मैन शैक्स का अनुमान है कि ईरान पर अमरीकी हमले से तेल की कीमतों में 10 गुना तक का उछाल आ सकता है जिससे खुद अमरीका तबाह हो सकता है। सीरिया, लीबिया, इराक की तुलना में ईरान बेहद ताकतवर देश है, अमरीका उसे आसानी से नहीं हरा सकता। अगर युद्ध लम्बा खिंचा तो वैश्विक अर्थव्यवस्था की तबाही तय है और अमरीका यह कभी नहीं चाहेगा।

परिस्थितियों की जटिलता ने अमरीकी कूटनीतिज्ञों और खासकर ट्रम्प की हालत बेहद मजाकिया बना दी है। उनके बयान और दाबे बचकानेपन की तमाम सीमाओं को लाँघ गये हैं। ट्रम्प के बयानों की हालत तो यह है कि लगता है कि झगड़ा अमरीका बनाम ईरान न होकर ट्रम्प बनाम ट्रम्प है। यह अमरीकी राजनीति के दिवालियेपन का चरम है।

मई 2018 से अब तक अगर इस मामले पर ट्रम्प के बयानों और ट्वीट को एक साथ रखकर देखें तो ट्रम्प का दोगला चरित्र स्पष्ट हो जाता है। उसने ईरान और समझौते के बाकी सदस्य देशों के साथ कोई बातचीत, कोई कूटनीतिक प्रयास किये बिना, एकतरफा ढंग से यह कहकर समझौता तोड़ दिया था कि यह अमरीका के हित में नहीं है। अब वह किसी दिन समझौते की बात करता है और कभी नये प्रतिबन्धों की। कभी वह ईरान को तबाह कर देने की धमकी देता है और किसी दिन अमरीकी सेना को हमला करने से रोक देने की बात कहकर मानवतावादी चोला ओढ़ने की कोशिश करता है। वह हवाई हमले के आदेश को तो मंसूख कर देता है लेकिन साइबर हमले और आर्थिक हमले को मंजूर कर लेता है जिसने लाखों ईरानियों का जीवन नरक कर दिया है।

अमरीका एक बार फिर से अपना जंगी बेड़ा लेकर खाड़ी में घुस तो आया है लेकिन उसका इज्जत बचाकर वापस निकलना मुश्किल है। इराक युद्ध की तुलना में परिस्थितियाँ बहुत ज्यादा जटिल हैं। दूसरी तरफ सीरिया, वेनेजुएला, उत्तरी कोरिया इन तीनों ही मामले में अन्ततः अमरीका को पीछे हटना पड़ा है। ज्यादा सम्भावना यही है कि ईरान से भी ज्यादा कुछ हासिल किये बिना ही उसे लौटना पड़े। यह सही है कि अमरीका, ईरान के अलावा समझौते में शामिल पाँच ताकतवर देशों ने अमरीका का खुलकर विरोध नहीं किया है, क्योंकि उनके आर्थिक हित अमरीका के साथ हैं। लेकिन वे पहले खाड़ी युद्ध की तरह अमरीका के साथ भी नहीं खड़े हैं। सभी ईरान के साथ व्यापार के ऐसे वैकल्पिक रास्ते तलाश रहे हैं, जिससे अमरीकी प्रतिबन्ध भी न टूटे और ईरान के साथ पूरा नहीं तो थोड़ा व्यापार चलता रहे। दरअसल पहले खाड़ी युद्ध का दौर वैश्वीकरण के उभार का दौर था, आज उसका गुब्बारा पिचक चुका है। अमरीका, जो सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं की खिड़की, दरवाजे खुलवाने के जोर लगाता था, आज विदेशी मालों पर टैक्स बढ़ा कर खुद अपने दरवाजे बन्द कर रहा है। यही काम कम या ज्यादा पैमाने पर सभी बड़े देश कर रहे हैं। सबकी अर्थव्यवस्था ठप्प पड़ी है। सबके मुनाफे और बाजार सिकुड़ रहे हैं, इसलिए सबको तात्कालिक राहत की जरूरत है। अमरीका का ईरान पर हमला इस समस्या को और बढ़ा देगा।

वैश्वीकृत विश्व के अलम्बरदारों के बीच दरारें तो स्पष्ट दिखायी दे रही हैं लेकिन कमजोर देशों की आर्थिक गुलामी पर टिके इस वैश्वीकरण की नीतियों को ठुकराने की हिम्मत किसी में नहीं है। जब तक यह पूँजीवादी वैश्वीकरण रहेगा, तब तक कभी भी युद्ध की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। भगत सिंह के अनुसार कहें तो जब तक व्यक्ति द्वारा व्यक्ति और राष्ट्र द्वारा राष्ट्र के शोषण की व्यवस्था का नाश करके दुनिया का समाजवादी वैश्वीकरण नहीं होगा, तब तक युद्ध की सम्भावना हमेशा बनी रहेगी।

पृष्ठ 59 का शेष...

निरन्तर अपनी प्रेमिका के सम्पर्क में रहा और उसकी प्रेमिका उसकी फरारी में मदद करती रही थी।

कलकत्ता पुलिस ने कादर खान की प्रेमिका से कादर खान के सम्बन्ध में पूछताछ की थी और उसने हमेशा उससे किसी सम्पर्क या जानकारी से इन्कार किया था पर कादर खान की गिरफ्तारी के बाद हुई पुलिस जाँच में आश्चर्यजनक रूप से उसकी प्रेमिका न सिर्फ उसकी फरारी में मददगार साबित हुई बल्कि उनके साथ साथ होटल में ठहरने और कादर खान के लिए फरारी के दौरान टिकट की व्यवस्था करने में भी शामिल मिली।

यह हैरतअंगेज बात थी कि खूब सारे साक्ष्य मिलने के बाद भी पुलिस ने कादर खान की प्रेमिका को अभियुक्त नहीं बनाया।

बलात्कारी कादर खान की सहयोगी प्रेमिका बंगाली सिनेजगत की विख्यात अभिनेत्री नुसरत जहाँ थी। जो ममता बनर्जी की करीबी थी।

यह वही नुसरत जहाँ थी, जो आज तृणमूल कांग्रेस की सांसद है। जिस महिला को कानूनन सलाखों के पीछे होना चाहिए था वह आज देश की संसद की एक आदरणीय सदस्य है और अपनी अदाकारी के जलवे और भंगिमाओं से अपने विरोधियों को भी मुग्ध कर रही है।

आज नुसरत जहाँ के चर्चे हैं! पर इन चर्चाओं के बीच नुसरत के बरअक्स अपने लिए मानवीय गरिमा के साथ जीने की लड़ाई लड़ने वाली सुजैट जार्डन भी है।

सुजैट जार्डन, जिसने बीबीसी से अपने एक इंटरव्यू में कहा था "अपनी वास्तविक पहचान छिपाते-छिपाते मैं थक चुकी हूँ। मैं समाज के कायदे कानून से थक चुकी हूँ। मैं बलत्कृत हूँ लिहाजा डरी सहमी रहने की इस यंत्रणा से थक चुकी हूँ। बस अब बहुत हुआ!

मेरा नाम सुजैट जार्डन है!"

एक तरफ कुछ लोग हैं, जिनकी नायिका नुसरत जहाँ है तो उनके बरअक्स भी लोग हैं, बेशक एक अकेला ही क्यों न हो, जिनकी नायिका सुजैट जार्डन है और वहाँ नुसरत जहाँ खलनायिका थीं और हैं।

(कश्यप किशोर मिश्र की फेसबुक वॉल से साभार)

यमन का गृहयुद्ध और साम्राज्यवादी गिरोह का हमला

-- अजहर

यमन में 2015 से हुति विद्रोहियों और सऊदी अरब समर्थित सरकार के बीच गृह-युद्ध चल रहा है जिसमे अब तक 10 हजार से अधिक लोग मारे गये हैं और 15 हजार से अधिक लोग घायल हुए हैं। हुति सिया मुसलमान हैं जिन्हे ईरान का समर्थन हासिल है जो की एक सिया देश है जबकि यमन सरकार को सऊदी अरब और उसके अन्य सहयोगियों का समर्थन है। ईरान और सऊदी अरब मध्य-पूर्व में अपना अपना वर्चस्व चाहते हैं।

हुति यह मानते हैं की यमन सरकार ने उनका सही तरीके से विकास नहीं किया है इसलिए उन्होंने 2004 से ही विद्रोह करना शुरू कर दिया था और 2014 में उन्होंने यमन की राजधानी साना पर कब्जा कर लिया था। जिससे 2015 में गृह युद्ध की शुरुआत हो गयी थी। 2015 में गृह-युद्ध शुरू होने के बाद से सऊदी अरब ने हुति इलाकों पर बमबारी करनी शुरू कर दी. सऊदी अरब ने यमन पर 2015 के बाद से 2 लाख 30 हजार से अधिक हमले किए हैं। इस बमबारी में स्कूलों, अस्पतालों और खाद्य भंडारण स्थलों को निशाना बनाया गया। मछली पकड़ने वाली नावें, मछुवारे और मछली बाजार सऊदी अरब के युद्धपोतों और हेलीकाप्टरों का शिकार बन गये। सऊदी अरब के सहयोगी देशों ने यमन को खाद्य सामाग्री भेजनी बन्द कर दी। यमन अपने वार्षिक प्रधान खाद्य आपूर्ति के 80 फीसदी से अधिक के लिए समुद्री आयात पर निर्भर है इसलिए खाद्य सामाग्री के आयात को रोकने के लिए बन्दरगाहों पर बम्बारी की गयी। खाद्य आपूर्ति के मामलों को और भी बदतर बनाने के लिए अमेरिका समर्थित सऊदी हवाई हमले ने 2015 से 2018 तक जान-बूझ कर कृषि क्षेत्रों, बाजारों और खाद्य भण्डारण स्थलों को निशाना बनाया जिससे अकाल और भूखमरी की आग धधक उठी।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा पिछले साल जारी एक रिपोर्ट के अनुसार 2 कारोड़ यमनवासी भूखमरी का शिकार हो सकते हैं। जो यमन की कुल आबादी का 70 फीसदी है। इस भयावह स्थिति में 20 लाख से अधिक बच्चे शामिल हैं जो पहले से ही भूख से ग्रसित हैं। इनमें भी 5 लाख बच्चे ऐसे हैं जो गंभीर कुपोषण से पीड़ित हैं। युद्ध के कारण उत्पन्न भयावह स्थिति के बीच हैजा के प्रकोप से यमन में स्थिति और भी गम्भीर हो गयी। इस प्रकोप ने लगभग 2 लाख 69 हजार लोगों को संक्रमित किया और 1600 लोगों की मौत का कारण बना। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने बताया की हैजा के कारण यमन में मरने वाले लोगों की संख्या 2015 में पूरी दुनिया में हैजा के कारण मरने वाले लोगों की संख्या से अधिक है। इसके अलावा यमन में हजारों बच्चे ऐसी बीमारियों से मर रहे हैं जिनका इलाज आसानी से हो सकता है लेकिन चिकित्सा, भोजन और अस्तित्व के लिए बुनियादी आवश्यकताओं को यमन में आने से रोक दिया गया। यमन के लोग न केवल अपने अस्तित्व के लिए बल्कि पश्चिमी मीडिया द्वारा इन हालातों के कवरेज न किए जाने के लिए भी संघर्ष कर रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र का कहना है की अगर हालात और बुरे होते हैं तो यमन का इससे उबर पाना सम्भव नहीं होगा।

युद्ध की इस स्थिति ने यमन में सामान्य जन-जीवन को तहस-नहस कर दिया है। यमन के मामले में अमेरिका सऊदी अरब का समर्थन करके उन्हीं गलतियों को दोहरा रहा है जो उसने इराक के साथ किया था। अमेरिका लगातार सऊदी अरब को भारी मात्रा में हथियार बेंच रहा है और सऊदी अरब धड़ल्ले से उसका इस्तेमाल यमन में कर रहा है। 2018 में सऊदी अरब दुनिया का सबसे बड़ा हथियार आयातक देश रहा है जिसका बहुत बड़ा भाग उसने अमेरिका से आयात किया है और कर रहा है।

इराक की तबाही से इस्लामिक स्टेट (आइएसआइएस) जैसा आतंकवादी संगठन पैदा हुआ उसी तरह यमन की तबाही ने मासूम लोगों को आतंकवादी संगठनों में शामिल होने क लिए रास्ता तैयार कर दिया है। अल-कायदा जैसा आतंकवादी संगठन पहले ही यमन में लम्बे समय से काम कर रहा है और अब बहुत तेजी से अपनी पैठ बना रहा है।

पृष्ठ 56 का शेष...

प्रदान कर सके और हत्यारे सैन्य शासन को पराजित करके जनपक्षधर सरकार की स्थापना करे।

सूडान की जनता का यह संघर्ष विशिष्ट और तात्कालिक माँगों से शुरू हुआ था लेकिन अब इसमें न्याय, अधिकार और लोकतंत्र जैसी जरूरी राजनीतिक माँग भी शामिल हो गये हैं। अगर सैन्य सरकार इन माँगों को पूरा नहीं करती है, जो स्पष्ट रूप से दिख रहा है तो जनता का विरोध जारी रहेगा। वह अपनी आजादी हासिल करके रहेगी। यूँ ही लाखों लोगों ने अपने जीवन को खतरे में नहीं डाला। उन्होंने महीनों तक इसलिए विरोध नहीं किया कि उन्हें केवल लुभावने वादों से संतोष करना पड़े। इस संघर्ष का उनके लिए कोई अर्थ नहीं होगा यदि वे अपने अधिकार पाने में सफल नहीं होते।

शासन के खूनी तांडव के बीच सूडान में विरोध प्रदर्शन

-- कवीन्द्र कबीर

सूडानी डॉक्टरों ने जून के पहले सप्ताह में यह कहकर दुनिया में खलबली मचा दी कि पिछली सोमवार को सूडान के अर्ध सैनिक बलों ने राजधानी खार्तूम में विरोध प्रदर्शन के दौरान जमकर खूनी तांडव किया। सैनिकों ने 70 से अधिक महिलाओं के साथ बलात्कार किया। सरकारी दमन के चलते 100 लोग मारे गये और 700 से अधिक लोग घायल हुए। सूडान की सरकार ने मीडिया पर पूरी तरह प्रतिबन्ध लगा दिया है, जिससे लोगों तक सही जानकारी नहीं पहुँच पा रही है। सरकारी अत्याचार के चलते वहाँ से दूसरे देशों को पलायन कर रहे लोगों से छिट्पुट जानकारी मिल रही है। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने बलात्कार और हत्या की खबरों को सही बताया लेकिन कितने व्यापक पैमाने पर हिंसा फैलाई गयी, इसका पता नहीं लग सका।

दशकों तक सेना ने सूडान की जनता पर क्रूरतापूर्वक अत्याचार किया और मई में दर्जनों प्रदर्शनकारियों की हत्या कर कर दी। इसके बाद अब सेना ने 'लोकतंत्र' और 'मानवाधिकार' का वादा करते हुए जनता से घर लौटने और उनके शासन को स्वीकार करने की सलाह दी है। किन्तु अफ्रीका के इस देश की जनता उसकी पैंतरेबाजी को अच्छी तरह समझती है और विरोध प्रदर्शन अब भी जारी है। पूरे सूडान में प्रदर्शनकारी जोर दे रहे हैं कि आमूलचूल परिवर्तन का प्रयास तब तक जारी रहेगा, जब तक पूरे शासन को उखाड़ न फेंका जाए। इन प्रदर्शनों को दबाने के लिए वहाँ की सैन्य सरकार क्रूरतापूर्वक हिंसक कार्रवाई कर रही है। इसी सिलसिले में अब तक सैकड़ों प्रदर्शनकारियों की हत्या की जा चुकी हैं और कई महिलाओं का बलात्कार किया जा चुका है।

1950 के दशक में अफ्रीका के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में स्थित सूडान को ब्रितानी साम्राज्यवाद से आजादी मिली थी। आजादी हासिल करने के बाद यह देश बुरी परिस्थितियों का शिकार हो गया। वह धीरे-धीरे गृहयुद्ध में फँसता चला गया। देश में सत्ता परिवर्तन लगातार होते रहे लेकिन उत्तरी और दक्षिणी सूडान के बीच गृहयुद्ध जारी रहा। इन्हीं गृहयुद्धों के बीच कर्नल उमर अल बशीर ने वर्ष 1989 में तख्तापलट कर सूडान में सत्ता की बागडोर सम्भाल ली। लेकिन 1989 के बाद भी सूडान कभी शान्त नहीं हो पाया। एक तरफ जहाँ सत्ता वर्ग सूडान की सम्पत्ति का बन्दरबाट करता रहा तो वहीं दूसरी तरफ साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी झूठे आरोप लगाकर तरह-तरह के हमले करती रहीं।

उमर अल बशीर ने सूडान पर तकरीबन 30 वर्षों तक शासन किया। इन 30 वर्षों के दौरान गृहयुद्ध जारी रहे और सबसे ज्यादा परेशानियाँ सूडान की जनता को उठानी पड़ी। आखिरकार वर्ष 2011 में सूडान के दो हिस्से कर दिये गये। प्राकृतिक संसाधनों का ज्यादातर हिस्सा दक्षिणी सूडान के हिस्से में आया और धीरे-धीरे उत्तरी सूडान की माली हालत खराब होने लगी। अर्थव्यवस्था की बिगड़ती हालत ने आसमान छूती मुद्रास्फीति के साथ-साथ मन्दी को भी जन्म दिया। रोजमर्रा की चीजों की बढ़ती कीमतों ने लोगों में आक्रोश पैदा कर दिया। सूडान के लोग विकास की अनदेखी, खराब आर्थिक नीतियों, स्वास्थ्य और शिक्षा की बदहाली, भ्रष्टाचार, राजनीतिक समस्याओं और बाधाओं को लेकर भी काफी नाराज थे।

दिसम्बर 2018 में देश के एक हिस्से अत्बारा में बढ़ी कीमतों को लेकर प्रदर्शन शुरू हो गया जो धीरे-धीरे खार्तूम तक फैल गया। अल-बशीर ने जनता को गुमराह करने के लिए आपातकाल की घोषणा की और पूरे मंत्रिमंडल को भंग कर दिया। लेकिन जनता को सिर्फ एक ही बात मंजूर थी-- सत्ता परिवर्तन। वह लगातार सरकार के खिलाफ प्रदर्शन करती रही। इसका फायदा उठाते हुए सेना ने उमर अल बशीर की सरकार को बर्खास्त कर दिया और 11 अप्रैल, 2019 को सत्ता अपने हाथ में लेते हुए आपातकाल लगा दिया। सूडानी जनता के दबाव ने 30 वर्ष से गद्दी पर काबिज निरंकुश जनरल उमर अल-बशीर के शासन को उखाड़ फेंकने में मदद की, लेकिन सेना के निरंकुश अधिकारियों ने सत्ता को हथिया लिया। इस तरह आमूलचूल परिवर्तन करने का जनता का सपना अधूरा रह गया।

इतनी हत्याओं के बाद भी सैन्य शासक वर्ग भयभीत है और राज्य शक्तिहीन। सैन्य परिषद का भी सेना पर पूरी तरह नियंत्रण नहीं है। असली शक्ति सड़कों और कारखानों में है। यह उन श्रमिकों, माध्यम वर्ग और गरीब किसानों के हाथों में है जो फिलहाल शक्तिशाली साबित हुए हैं। सूडान की जनता के पास सत्ता वर्ग को पराजित करने की शक्ति तो है किंतु समस्या यह है कि वहाँ सत्ता के एक-एक गढ़ को चकनाचूर करने के लिए जनता का कोई लोकप्रिय संगठन मौजूद नहीं है, जो जनता को मार्गदर्शन और नेतृत्व

शेष पृष्ठ 55 पर...

पत्रकारिता की दशा और दिशा

-- विष्णु नागर

कुछ साल पहले एक बड़े पत्रकार साहब ने एक बार करीब चार सौ पेज की डिमाई आकार की अपनी एक किताब हमें सहर्ष भेंट की। हमने भी खुशी-खुशी स्वीकार कर ली। उसे घर लाए। कुछ दिनों में उसमें से जो-जो हमारे लिए जानकारीपरक हो सकता था--पढ़ा। अगली मुलाकात में हमने उनसे कहा कि अच्छी परिचयात्मक पुस्तक है मगर इसमें फलाँ अन्तर्विरोध बहुत स्पष्ट हैं। वह भौंचक हमारा मुँह देखने लगे, इसलिए नहीं कि हमने क्यों उनकी आलोचना करने की जुर्रत की। वह हमारी तरफ भौंचक होकर शायद देख इसलिए रहे थे कि उन्होंने खुद अपनी किताब पढ़ी नहीं थी, इसलिए उनके पास इसका कोई जवाब नहीं था। हमने टापिक बदला और बात दूसरी शुरू की। उनका खोया हुआ आत्मविश्वास लौटा। अब इसका अर्थ आप जो भी लगाना चाहें, लगाएँ मगर आप मुझसे यह न कहलवाएँ कि वह किताब हालाँकि उनके नाम से छपी थी मगर उन्होंने लिखी नहीं थी और पढ़ी भी नहीं थी। सच मुझे वाकई नहीं मालूम। मैं भी अनुमान लगा सकता हूँ आपकी तरह। इतना अवश्य है कि दो लेख जो उन्होंने हमसे कभी लिखवाए थे, उन्हें अपना समझकर-मानकर अपनी किताब में शामिल कर लिया था। उनकी उदारता देखिए कि हमें वह किताब उन्होंने भेंट में भी दी।

इस मामले पर हम चुप रहे मगर हमारे एक पुराने साथी पत्रकार ने वह पुस्तक पढ़ी थी। उनकी स्मृति अच्छी है। उन्हें याद था कि ये लेख हमारे हैं। उन्होंने हमें फोन किया और बताया कि ऐसा है तो हमने कहा कि हमें यह बात शुरू से मालूम है पर चुप रहना हमने श्रेष्ठ समझा। उन्होंने लिखवाए तो ही तो ये लेख लिखे गये, न लिखवाते तो भी तो उन्हें कुछ जुगाड़ करना पड़ता! वैसे हमारे उन मित्र ने उन बड़े पत्रकार साहब के मुँह पर यह बात कह भी दी कि ये लेख तो आपके लिखे हैं नहीं। बड़े पत्रकार साहब ने कुछ गोलमोल सा जवाब दिया। मैंने ये लेख अब उनके नाम कर दिये हैं। वैसे भी इतना अधिक हमने लिख मारा है कि वे दो लेख,दो मुट्ठी आटे के बराबर दिया दान है। उस दान से वाकई हिन्दी पत्रकारिता का विकास होता हो तो हो जाए और न होता हो तो हमारी बला से!

दो स्वर्गीय पत्रकार ऐसे हैं, जो बड़े संस्थान में बड़े पदों पर रहे। एक को लगा कि अब राजनीतिक माहौल बदल चुका है, उनके पक्ष में नहीं है और अब उनकी कुर्सी की रक्षा राजनीति के एक बड़ी हस्ती पर किताब लिखकर ही हो सकेगी, जिनका बड़ा योगदान इस सत्ता परिवर्तन में है। तो वे अपने एक मातहत के पीछे पड़ गये, जिसके लिए इस तरह की किताब लिखना प्रायः असम्भव था। वह योग्य हैं मगर व्यावसायिक लेखन के लिए परम अयोग्य हैं। संयोग था कि उनके ये मातहत अपने बास के घर से कुछ किलोमीटर दूर ही रहते थे। वह रोज सुबह-सुबह उनके घर पहुँच जाएँ। उन बड़े पत्रकार के इस दृढ़ संकल्प का ऐसा असर हुआ कि वह जो शख्स ऐसी किताब लिखकर दे ही नहीं सकता था,उसने लिखकर दी। एक और बड़े पत्रकार ने अपने एक मातहत से एक बड़े कलाकार के बारे में किताब लिखवा ली और अपने नाम से छपवा ली।

तो हिन्दी पत्रकारिता हमेशा से पत्रकारिता के पथ पर अग्रसर ही रही है और अब तो खैर इतनी अधिक अग्रसर हो चुकी है कि 95 प्रतिशत सम्पादक या तो लिखना जानते नहीं या उनका लिखा पढ़ने के काबिल न आज है, न कल रहेगा। हमारे एक सम्पादक हुआ करते थे।बातों के धनी।इंजीनियरिंग के स्नातक। दुनिया की हर बात को मोड़कर इलैक्ट्रिकल इंजीनियरिंग पर ले आयेँ और दनादन ज्ञान पिलाएँ। पता नहीं क्या सोचकर इस पेशे में आ गये थे। होते-होते सम्पादक बन गये थे। एक विद्वान सम्पादक ने हम विशेष संवाददाताओं की बैठक बुलाई। संयोग से शिवरात्रि से एक दिन पहले यह बैठक बुलाई गयी थी। उनके दिमाग में शिवरात्रि घूम रही थी। उन्होंने हमसे कहा कि शिवरात्रि की कवरेज अच्छी होनी चाहिए। उन्हें यह बुनियादी अन्तर मालूम नहीं था कि यह काम स्थानीय संवाददाताओं का होता है। विशेष संवाददाता राष्ट्रीय राजनीतिक दलों, केन्द्रीय मंत्रालयों, संसद की कवरेज आदि का काम किया करते हैं। जब मैंने कहा कि महोदय यह हमारा काम नहीं, रिपोर्टर का है तो खिसियाकर उन्होंने कहा--"मैं तो यूँ ही कह रहा था।"

बजट का दिन था। हमारे एक साथी बजट का मुख्य समाचार लिख रहे थे, बाकी हम छोटे समाचार। वह नये-नये ही

सम्पादक बने थे। आए न्यूज ब्यूरो की ओर। मुख्य खबर लिखनेवाले साथी के पास गये। पूछा पहला पैरा(इंट्रो) क्या लिख रहे हैं? वह जो लिख रहे थे बता दिया। कहने लगे यह ठीक नहीं है। तब हमारे साथी ने कहा कि तब आप ही लिखवा दीजिए। उन्होंने बोलकर लिखवाना शुरू किया। वाक्य रचना का ठिकाना नहीं। इंट्रो लिखवा चुके तो हमसे रहा नहीं गया। कहा कि सम्पादक जी आपका तो पहले पैरेग्राफ में ही अन्तर्विरोध है। तब वह बोले हमारे साथी से-- "अच्छा-अच्छा आप ही लिखिए।" वह स्वयं भी कभी संवाददाता रह चुके थे मगर बतौर सम्पादक विदेश गये तो वहाँ से खबर लिखकर नहीं, कुछ मुख्य बिन्दु लिखकर भेज देते थे और बाकी काम हिन्दी न्यूज एजेंसी की कापी से सम्पन्न होता था और वह खबर उनके नाम से छपती थी।

किस्से और भी हैं। चावल पका या नहीं, उसके दो दानों से सुघड़ गृहणियाँ जान लेती हैं। आप भी उस भूमिका को अपनाकर हिन्दी पत्रकारिता की दशा और दिशा जान सकते हैं, जो इस तरह के शीर्षक की कोई पुस्तक छपी हो तो उससे कतई नहीं जान पाएँगे।

और अच्छा ही हुआ कि आज राजेन्द्र माथुर और रघुवीर सहाय जैसे सम्पादक नहीं हैं, होते तो भूखे मरते। मालिकों को आज चाहिए भी ऐसे सम्पादक जिनके मौजूदा सत्ता के साथ अच्छे समीकरण हों या जो बना सकने की क्षमता रखते हों, जो विज्ञापन दिलाएँ, बिजनेस दिलाएँ। मालिकों को माथुर साहब या रघुवीर जी चाहिए भी नहीं। हाँ इन जैसे तो नहीं मगर तमीजदार, पढ़े-लिखे और अभ्रष्ट एक-दो अपवाद मेरी नजर में आज भी हैं और एक-दो ही शायद आपकी नजर में भी हों, जो आज कार्यरत हैं मगर अभी शीर्ष से दूर हैं और इसमें ही उनका भला है। वे अपनी बात अखबार में तो शायद कह भी न पाते हों मगर सोशल मीडिया पर कहते हैं और जमकर कहते हैं।

फ्लाईओवर के नीचे एक नयी दुनिया

नगर, शहर में बने फ्लाईओवर
बहुत काम के हैं इनसे ट्रैफिक जाम से तो
निजात मिली है आना-जाना भी
शायद हुआ है आसान
जिन्दगी और सुविधाजनक हुई है
फ्लाईओवर वाकई काम के हैं?
(इनके नीचे एक पूरी बस्ती बस गयी है जिनका कहीं और
ठौर-ठिकाना नहीं था आबाद हो गये हैं यहाँ बिल्कुल एक
नयी बस्ती आबाद हो गयी है।)

सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं
इस बस्ती में अखबार हैं, चर्चाएँ हैं
सुलगती गैस की
अंगीठियाँ हैं
चाय है, नाश्ता है, फल है सस्ते दाम पर
मनपसन्द खाना है
रिक्शा, ठेला चालकों
रोज कुआँ खोद कर
पानी पीने वालों की भीड़ है।
(गाँव से उखड़े लोग यहाँ हैं रोजी रोटी की जुगाड़ में
संघर्षरत हैं जो उनका यही आशियाना है एक पिछड़े
गाँव सा दृश्य है टिनके, टप्परे बिखरे हैं।)
मिमिया रही हैं बकरियाँ चुग रही हैं मुर्गियाँ
लोग बाग लस्त-पस्त हैं जीने की जद्दोजहद में
लगते सब व्यस्त हैं।

अपनी ही तरह की एक दुनिया है वंचितों, बेसहारों का
पता, ठिकाना है
लेकिन यहाँ भी प्रतिस्पर्धा है
कारोबारी ईर्ष्या है
ज्यादा से ज्यादा कमाने की होड़ है
उघड़े तनों को ढकने की कोशिश है
पैबन्दों को उखाड़ देने की चाह है
फ्लाईओवर क्या संकेत है
आगे निकल जाने या पिछड़ जाने की?

--शेर सिंह

नुसरत जहाँ : फिर तेरी कहानी याद आयी

नुसरत जहाँ आजकल खबरों में हैं। कभी माँग में सिंदूर सिर पर पल्लू के साथ खींचा भगवान जगन्नाथ का रथ तो कभी शपथ की शुरुआत ईश्वर के नाम पर और अन्त वंदेमातरम के साथ।

नुसरत जहाँ बंगाली अभिनेत्री रही हैं और फिलहाल तृणमूल कांग्रेस की सांसद हैं। उन्होंने हाल ही में निखिल जैन से अन्तरधार्मिक विवाह किया। संसद में अपने पहले दिन ही नुसरत अपनी मित्र और तृणमूल कांग्रेस की ही एक अन्य सांसद मिमि के साथ पाश्चात्य कपड़ों में खींची तश्वीर को लेकर चर्चा में थीं।

इन सारी चर्चाओं के शोर और चमक में धर्म, राष्ट्रवाद और संस्कृति की अजब सी चाशनी लिपटी हुई है और एक बड़ा वर्ग नुसरत से सम्मोहित है। यह सम्मोहन इतना गहरा है कि तृणमूल के विकट विरोधी संघी भी नुसरत के जयकारे में शामिल नजर आते हैं।

सहसा ही नुसरत 'एक भारत-नेक भारत' की ब्रांड एंबेस्डर बनी ठनी लगती हैं। पर इन सबके बीच सिसकियों का एक अन्तहीन सिलसिला भी उभर आता है। यह सिसकिया सुजैट जार्डन के अपनों की हैं। सुजैट जार्डन की हैं, जो अब जीवित नहीं हैं और जरूरी है कि नुसरत जहाँ के चर्चो के बीच उनकी कहानी भी याद रखी जाये।

सुजैट जार्डन के बारे में बस इतना बताना नाकाफी होगा कि वह कलकत्ता के पार्क स्ट्रीट सामूहिक बलात्कार कांड की पीड़िता थीं और चलती कार में उनके साथ सामूहिक बलात्कार हुआ।

सुजैट जार्डन नें अपने बलात्कारियों के खिलाफ जब मुकदमा दायर करने की कोशिश की तो सरकार, प्रशासन और पुलिस सब उसके विरोधी हो गये।

सुजैट दो बेटियों रेहा और जेड की माँ थी और अपनी छोटी बहन निकि के लिए भी माँ थी। अपने सामूहिक बलात्कार के बाद आम तौर पर लोग टूट जाते हैं पर सुजैट अपने बलात्कार के बाद और, और! और और मजबूत होती गयीं।

द क्विंट में हरीश अय्यर ने लिखा था "उन्हें कोई नहीं रोक सका, ना तो उनका बलात्कार, न आर्थिक चुनौतियाँ, ना उनकी वैवाहिक स्थिति, ना ही उन्हें बदनाम करने का अभियान जो राज्य की मुख्यमंत्री (ममता बनर्जी) द्वारा था, ना कोई और। वह एक राजकुमारी की तरह जीई, जिन्होंने अपनी जिन्दगी को शेरनी की तरह बनाया।"

सुजैट के चलती कार में बलात्कार की खबर से कलकत्ता हिल उठा था। अपने असफल और विच्छेदित विवाह सम्बन्ध के साथ जी रहीं सुजैट आर्थिक रूप से बड़ी दयनीय दशा में जी रही थीं। उसे नौकरी की बेहद जरूरत थी। यह बात उसने कादर खान को बताई थी। कादर खान ने उसे नौकरी के सिलसिले में बातचीत और मदद का झांसा देकर एक बार से साथ चलने को कहा और कलकत्ता की बेहद वयस्त सड़क पार्क स्ट्रीट में अपने साथियों अली, नसीर, रमन खान, और सुमित बजाज के साथ चलती कार में उनके साथ बेहद पाशविकता से बलात्कार किया।

सुजैट की परिस्थितियों में जी रही किसी महिला के लिए ऐसे मामले में खड़ा होना भी कठिन होता पर सुजैट अपने बलात्कारियों के खिलाफ खड़ी हो गयीं। उनकी सुनने को कोई न था। कलकत्ता पुलिस कमिश्नर रंजीत पचनंदा ने मामले को 'पुलिस और सरकार की छवि धूमिल करने का अभियान' कहकर खारिज करने की कोशिश की। मामले पर शोर बढ़ा तो सत्तारूढ़ तृणमूल कांग्रेस इसमे कूद पड़ी और सुजैट को एक धंधेवाली औरत साबित करने की कोशिशें शुरू हो गयीं। तृणमूल कांग्रेस की नेता काकोली घोष दस्तीदार नें कहा "यह बलात्कार का नहीं बल्कि एक औरत और उसके ग्राहकों के बीच गलतफहमी का मामला है।"

मामले में मुख्यमंत्री ममता बनर्जी भी आदतन कूद पड़ी और उन्होंने पूरे मामले को 'फर्जी और गढ़ा हुआ' बता दिया। पर सुजैट अड़ गयीं। बलात्कारी प्रभावशाली थे, मुख्यमंत्री, राजनीतिज्ञों, शीर्ष नौकरशाहों के विरोध के बीच एक महिला आईपीएस दमयन्ती सेन ने सुजैट का साथ देकर मामले को हल कर दिया। दमयन्ती सेन ने मामले के सबूतों को नष्ट न होने दिया और साबित किया कि सुजैट के साथ बन्दूक की नोक पर अभियुक्तों नें बलात्कार किया था। दमयन्ती सेन की वजह से अभियुक्तों को सजा हुई और इस वजह से ममता बनर्जी नें दमयन्ती का तबादला कलकत्ता की ज्वाइंट कमिश्नर आफ पुलिस से एक कम महत्त्वपूर्ण भूमिका में कर दिया।

पर इस सारे मामले के दौरान, मुख्य अभियुक्त कादर खान फरार रहा। उसकी शादी अपनी प्रेमिका से तय थी कि बलात्कार कांड में उसकी संलिप्तता सामने आयी और उसकी शादी टल गयी।

वह चार वर्ष तक फरारी के बाद सितम्बर 2016 में पकड़ा गया। उसकी गिरफ्तारी के बाद पता चला कि इस दौरान वह

शेष पृष्ठ 54 पर...

क्लीन द नेशन, यानी जोर्ज ऑरवेल की किताब उन्नीस सौ चौरासी की थॉट पुलिस

-- रवीश कुमार

नाजी दौर के इतिहास को पलटिये आपको एक शब्द मिलेगा क्लींजिंग, जिसे यहूदियों के सफाये के सन्दर्भ में इस्तेमाल किया जाता था। उनकी बस्तियों की क्लींजिंग से लेकर नस्ल की क्लींजिंग तक का सन्दर्भ आपको जगह-जगह मिलेगा। आबादी के एक हिस्से को मिटा देने को क्लींजिंग कहते हैं। जार्ज ऑरवेल की एक किताब है-- 1984। उसका कोई भी पन्ना आप पढ़ लें, एक थॉट पुलिस का जिक्र आता है, विचार पुलिस कह सकते हैं। ऑरवेल इस संस्था की कल्पना कर रहे हैं जो हर नागरिक के मन में उभर रहे विचार को जान लेती है, नजर रखती है। जगह-जगह माइक्रोफोन और टेलीस्क्रीन लगे हैं जिसके पीछे से कोई आपको देख रहा है। कोई आपको सुन रहा है। विचार पुलिस नहीं चाहती कि एक नागरिक या इनसान के तौर पर आपके भीतर कोई भी भावना जिन्दा रहे। भले ही वह भावना अतिरिक्त खुशी की क्यों न हो। भावनाओं पर भी पार्टी का नियंत्रण है।

1984 किताब 1949 में छपी थी। इन दिनों अमरीका में यह किताब फिर से पढ़ी जाने लगी है। आज के वक्त को आखिर कैसे इस शख्स ने साफ-साफ देख लिया था। हमारे लिए लिख दिया था। दुनिया तब भी बेखबर रही। आज भी बेखबर है। सीटीएन- क्लीन द नेशन 2019 में बनी है। भारत में बनी है। पुलवामा हमले के अगले दिन 9 नौजवान फेसबुक पर इस नाम से एक ग्रुप बनाते हैं। इससे जुड़े लोग पुलवामा हमले पर सवाल उठाने वालों की पहचान करते हैं। उनके खिलाफ पुलिस में शिकायत करते हैं। उन्हें ट्रोल किया जाता है। वे गिरफ्तार होते हैं। निलम्बित होते हैं। इसके 4500 सदस्य बन जाते हैं। फेसबुक और ट्विटर ने इनके हैंडल को कैंसल कर दिया। फिर भी फेसबुक पर इनका छद्म ग्रुप चलता रहा। जिसके 40 एडमिनिस्ट्रेटर थे। ज्यादातर की उम्र 20 साल के आस-पास है। ये लोग नोएडा और दिल्ली में आईटी प्रोफेशनल के रूप में काम भी करते हैं।

एक वीडियो जारी होता है। इसके सदस्य मधुर सिंह कहते हैं कि 'भारतीय सेना' लिखा हुआ टी-शर्ट पहनो। उन लोगों का पता करो जो भारतीय सेना पर हँस रहे हैं। उनके मालिकों से सम्पर्क करो। जहाँ पढ़ रहे हैं उस यूनिवर्सिटी से सम्पर्क करो। उन्हें सबक सिखा दो। नौकरी से निकलवा दो। यूनिवर्सिटी से निलम्बित करवा दो। इंडियन एक्सप्रेस ने मधुर सिंह से भी बात की है। इसके कोर सदस्यों से बात कर लिखा है कि यह समूह दावा करता है कि भारत विरोधी लोगों के खिलाफ 45 प्रकार की कार्रवाई करवायी गयी। गुवाहाटी के एक कालेज का सहायक प्रोफेसर निलम्बित होता है। राजस्थान विश्वविद्यालय 4 कश्मीरी छात्राओं को निलम्बित करता है। एक ट्विटर पोस्ट के कारण जयपुर में गिरफ्तारी होती है। ग्रेटर नोएडा का इंजीनियरिंग कॉलेज अपने कश्मीरी छात्र को निलम्बित करता है। बिहार के कटिहार में एक छात्र फेसबुक पोस्ट के कारण गिरफ्तार होता है। कई संस्थाओं ने सीटीएन को कार्रवाई का पत्र दिया है। सीटीएन को पिछले हफ्ते सोशल मीडिया पत्रकारिता के लिए पुरस्कार दिया जाता है। इस पुरस्कार का नाम है सोशल मीडिया पत्रकारिता नारद सम्मान। मंच पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मनमोहन वैद्य हैं। केन्द्रीय मंत्री स्मृति ईरानी हैं। पुरस्कार देने वाली संस्था का नाम है-- इन्द्रप्रस्थ विश्व संवाद केन्द्र। यह आयोजन होता है दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में।

इंडियन एक्सप्रेस ने अवार्ड देने वाली संस्था के सचिव वागीश इस्सर से बात की है। उनका कहना है कि "इस समूह को अवार्ड इसलिए दिया गया क्योंकि हमने देखा कि ये अपने देश को बहुत प्यार करते हैं। बहुत लोग देश को प्यार करते हैं लेकिन कुछ लोग ज्यादा सक्रियता से प्यार करते हैं।" गुवाहाटी की सहायक प्रोफेसर ने कहा है कि मीडिया पीछा करने लगा। घर छोड़कर भागना पड़ा। महीने भर बाद लौटी लेकिन निलम्बन पर अभी तक फैसला नहीं हुआ है। वापस नहीं लिया गया है। जयपुर में चार कश्मीरी लड़कियों के खिलाफ मुकदमा दर्ज किया गया। उनके व्हाट्स एप मैसेज का मतलब निकाला गया कि इन लोगों ने पुलवामा हमले पर खुशी जाहिर की है। उन्हें कॉलेज और हॉस्टल से निलम्बित कर दिया गया। स्थानीय लोग भी इनके खिलाफ प्रदर्शन करने आ गये। एफआईआर दर्ज हुई मगर कोई गिरफ्तार नहीं हुआ। एक्सप्रेस ने थाने के एसएचओ से बात की है। बताया है कि हमने मामले की जाँच की और निष्कर्ष यही निकला है कि कोई अपराध नहीं किया गया है। लड़कियों के खिलाफ कोई मामला नहीं बनता है। कोर्ट में जवाब सौंप दिया गया है।

जरूर इन बातों से स्थानीय स्तर पर मोहल्लों में बहस हुई होगी। लोगों को फर्जी सूचनाओं के आधार पर राष्ट्रवादी बनाया गया होगा। मीडिया में बहस हुई होगी। मामला समाप्त होने पर न समाज को अफसोस है और न मीडिया को। जगह-जगह इसी पैटर्न पर बहस के मुद्दे पैदा किये जाते हैं। लोगों के बीच से राष्ट्रविरोधी की पहचान की जाती है और दूसरे मुद्दों से लोगों को भटका दिया जाता है। हर दिन लोग इसी तरह से ड्रिल कर रहे हैं। वे जार्ज ऑरवेल के 1984 के नागरिक बन गये हैं। उनकी अपनी कोई सोच नहीं बची है। कोई समझ नहीं बची है। वे अब अपनी हँसी भी नहीं हँस सकते हैं। जब नेता कहेगा और जितना नेता हँसेगा उतना ही हँसना होगा।